आधे रास्ते

आधे रास्ते

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की आत्मकथा का
पहला भाग

कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

अनुवादक
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस दिल्ली से मुद्रित
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड दिल्ली द्वारा प्रकाशित
मूल्य साढ़े चार रुपये

पहला खण्ड

टीले के मुन्शी

: १ :

मेरा जन्म संवत् १६४४ में पूष मास की पूर्णिमा को दोपहर के बारह बजे भड़ौंच में हुआ। उस दिन सन् १८८७ के दिसम्बर के महीने की २६ वीं तारीख थी या ३०वीं, इसका मुझे ठीक पता नहीं है। चालीस वर्ष की आयु तक मेरा जन्म-दिवस २६वीं तारीख को मनाया जाता रहा, लेकिन उसके बाद मैंने पंचांग देखकर यह खोज की कि पूर्णिमा ३० को पड़ती है। तब से मेरा जन्म-दिवस ४८ घण्टे का मनाया जाने लगा।

लेकिन जब सन् १६३१ में मैंने 'सत्यसंहिता' नामक पुराने ताड़पत्र के ग्रंथ में अपनी जन्मपत्री पढ़ी तब अपने पैदा होने पर मुझे जो आश्चर्य हुआ था, वह जाता रहा। सैकड़ों वर्ष पहले सत्याचार्य ने यह बात जान ली थी—

सुरासुरेज्यौ यदि कोणयातौ, धराधिपे सोमसुते धनुष्ये।
वह्वि धराजे मिथुने शशांके मंदे कुलीरे झषलग्न जातः॥

× × × ×

गृहखवसुशशांके याति शाके च वर्षे
दिनकृति गतचापे पूर्णिमायां तिथौच॥
भृगुसुतदिवसे वै मीनलग्ने प्रजातः
बहुधन बहुभोगी न्यायदर्शी समर्थः॥

अंग्रेजी सरकार की भाँति मैं भी कह सकता हूँ कि भगवान् बचाये भारत के इन ब्राह्मणों से! मुझे पैदा होने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहने दी इस प्रकार मैं, मैं नहीं हूँ, मैं तो गणित और ज्योतिष शास्त्र का एक छोटा सा निर्जीव बुद्बुद्-मात्र हूँ। राम राम!

: २ :

मेरा जन्म मुंशी के टीले पर स्थित 'छोटे घर' में हुआ था। मुन्शी का टीला मुख्य रास्ते पर है और इस समय मुन्शी स्ट्रीट के विदेशी रूप में अपनी स्वदेशी आत्मा को छिपाये हुए है।

पचास वर्ष पहले के भड़ौंची भार्गव ब्राह्मण की दृष्टि से यह टीला सृष्टि में अत्यंत महत्त्व का स्थान रखता था—कुछ-कुछ वैसा ही जैसा कि ग्रीक की दृष्टि से 'पार्थेनोन' और रोमनों की दृष्टि से 'पेलेटीनेट हील' रखते थे इस पर मुन्शी फलते-फूलते। टीलेवालों का मिज़ाज़ और ही तरह का समझा जाता। टीले की कन्या से विवाह करने के लिए उत्साही भार्गव युवक पागल हो उठते। बहुत-से युवक इस कार्य में असफल होने पर देह छोड़ गए थे; इसलिए हमारी भाषा में 'विवाह करना तो टीले की कन्या से' का प्रयोग 'कार्यं साधयामि देहं वा पातयामि' के अर्थ में होता था। टीले के कुँए का पानी जोश लानेवाला समझा जाता। तीखे स्वभाव का व्यक्ति गर्व से कहता—'मैंने भी टीले के कुँए का पानी पिया है, समझे!' और मित्र ढीले ढाले आदमी से कहते—'तुझे तो टीले के पानी से नहलाना चाहिए।' यह नहीं, आज भी टीले से चार पीढ़ियों से सम्बन्ध रखनेवाले कहते हैं—'मुझे मत छेड़ना, मुझमें टीले का पानी है, समझे!' और सामनेवाला आदमी कहता है—'बाप रे बाप! तुमसे तो भगवान् बचावे। अब भी तुममें से टीले का पानी नहीं गया!' भड़ौंच के रहनेवालों और वहाँ बननेवाली बीड़ी के शौकीनों में यह बात मशहूर है कि इस पानी से तम्बाकू में तेज़ी आती है।

वास्तव में देखा जाय तो टीला एक छोटा-सा मुहल्ला है। इसमें एक ओर चार मकान हैं, दूसरी ओर तीन, और बीच में एक कुँआ है। यह बात भी एकदम समझ में नहीं आ सकती कि यह टीला है। कारण, आगे के रास्ते से यह बहुत ऊँचा नहीं है। पिछले डेढ़सौ वर्षों में मुन्शी इस स्थान से किसी टीले पर रहनेवाले बनचरों की भाँति कमाने, लड़ने और जाति पर शासन करने के लिए उतरते रहे हैं। भाप, तार और हवाई जहाज से यदि पृथ्वी न सिकुड़ गई होती, पाश्चात्य विद्या से बुद्धि की परिधि पृथ्वी और ग्रहों के उस पार न चली गई होती और 'गौमति दादा का गौरव'[1] के समान कौटुम्बिक गर्व का बुरी तरह मज़ाक उड़ानेवाले मेरे-जैसे तुच्छ व्यक्ति यदि पैदा न हुए होते, तो—तो मुन्शी का टीला सृष्टि का केन्द्र था।

टीले के सामने, रास्ते के उस पार, भृगु भास्करेश्वर का मन्दिर है। लेकिन थोड़े-से आदमी ही इसका असली नाम जानते हैं। इसका प्रचलित नाम 'नया मन्दिर' है। दो सौ वर्ष का होने पर भी यह 'नया' है, और जीर्ण भड़ौंच घिस जायगा तब भी यह नया ही रहेगा। यह भार्गव ब्राह्मणों का मुख्य स्थान है, 'केपीटल' है, 'पार्लमेंट हाउस' है। हमारी प्रत्येक बरात उसके आगे से जाती है। उसमें जाति के इष्टदेव हैं। इसके चबूतरे पर बैठकर पण्डितजी कथा बाँचते थे; इसकी सीढ़ियों पर बैठकर भार्गव युवक बीड़ी पीना सीखते थे। संसार से ऊबी हुई भार्गव स्त्रियाँ अपने पतिदेव को वश में करने के लिए इसके कुँए में पैर लटकाकर बैठती हैं। इसमें रहनेवाले विद्यार्थियों का मंत्रोच्चार मुझे आज तक सुनाई देता है। इसके गणेशजी के दर्शन करके मैंने अनेक कार्यों का आरम्भ किया। मैंने इसके हनुमान पर तेल और लाल स्याही से 'श्रीराम' लिखे कागज चढ़ाकर परीक्षा पास करने का प्रयत्न किया। अपने घर के छज्जे पर बैठकर, इसके नीम को देखते हुए, वन-उपवन की कल्पना करके मैंने वर्षों तक आनन्द प्राप्त किया। उसमें रहने

---

१. श्री मुन्शी कृत एक कहानी

वाले मोर-मोरनी सुबह-शाम इस छज्जे के सामनेवाले छज्जें पर घूमने
और मैं अकेला बैठा उनकी मित्रता का आनन्द लूटता। जब मैं बि
छोटा था तब मैं यह समझता था कि सरस्वती इनके द्वारा मुझे विद्या
करने का सन्देश भेजती हैं। इन मित्रों को मैं भली प्रकार जानता था
मैं समझता था कि वे भी मुझे जानते हैं। एक-दो तो निडर होकर पा
आ जाते थे। मेरे ये प्रिय स्वजन तो अब चले गए होंगे। इनके आ
जीवित वंशजों को मैंने नहीं देखा, उन्होंने भी मुझे नहीं देखा होगा।

जिस समय 'जीर्ण मन्दिर'[1] लिखा गया उस समय मैं इस 'नये मं
का प्रतिरूप बन गया था। मैंने मुसाफिर को कल्पना द्वारा इसी की सी
पर बैठा देखा।

भार्गवों ने इस भृगुभास्कर के मन्दिर की स्थापना क्यों की, यह
जानने योग्य है। जिस समय भड़ौंच में पेशवाई थी उस समय यहाँ के
(हाकिम) कोकणस्थ ब्राह्मण भास्कर राव थे। इस समय से पहले भड़
भार्गव ब्राह्मणों और दक्षिणी चितपावन ब्राह्मणों में शादी-व्यवहार होते
इस ओर ब्राह्मणों की बस्ती थी और सामने मुसलमानों की। दोनों में झ
हुआ कि यह जगह किसकी है? मुसलमान कहते थे कि इसमें हमारी
हैं। भार्गव कहते थे कि इसमें हमारे इष्टदेव का लिंग है। सूबा साहब
कहा—'ठीक है, मैं कल जगह देखने आऊँगा। जाँच करने पर जो
मालूम होगा, उसके अनुसार निर्णय किया जायगा।' दूसरे दिन जब सू
साहब गये तो वहाँ मुसलमानों की कब्र तो एक भी नहीं थी पर भार्गवों
इष्टदेव महादेव का लिंग पूजा की बाट अवश्य देख रहा था।

दुष्ट प्रतिद्वन्द्वियों ने बड़े-बड़े आक्षेप किये—भार्गवों ने सारी रात कुदा
और फावड़े का उपयोग किया और भार्गव स्त्रियाँ टोकरे भर-भरकर मिट्टी
नर्मदा में फेंकती रहीं। क्या किसीने दुनिया का मुँह बन्द किया है? लेकि

1. श्रीमती लीलावती मुन्शी —'जीर्ण मंदिर और यात्री'

पक्षपातरहित न्यायमूर्ति ने भार्गवों के पक्ष में निर्णय दिया। कृतज्ञ ब्राह्मणों ने अपने पूर्वज के नाम के साथ भास्कर राव का नाम जोड़ दिया और यों 'भृगुभास्करेश्वर' का मन्दिर स्थापित हुआ।

इस पराक्रम के बाद भार्गवों को नया नाम मिला। जब दूसरी जाति के लड़के हमारे लिए अत्यधिक घृणा का भाव प्रकट करना चाहते तो 'कब्रखोदा' शब्द का प्रयोग करते। लेकिन भार्गव लड़के भी विचित्र थे। क्रोधित होने के बदले वे इसमें गर्व का अनुभव करते और कहते—'अच्छा बता, तेरी कब्र खोदनी है कि तेरे बाप की?'

: ३ :

ऐसा माना जाता है कि हम भृगु ऋषि के वंशज हैं। नर्मदा-तट भार्गवों के पुण्य धामों से सुशोभित है। परशुराम द्वारा भूमिसात की हुई माहिष्मती नगरी नर्मदा पर थी।[१] और आज नदी के मुहाने के आगे, दहेज के पास लुवारा गाँव में मत्स्यपुराण में उल्लिखित परशुराम तीर्थ है। वनपर्व में लिखा है कि चांदोद के सामने भार्गव च्यवन का वैदूर्य पर्वत था। बौद्ध जातकों के काल से भड़ौंच भृगुकच्छ के नाम से विख्यात है। वहाँ भृगु ऋषि का पुराना मन्दिर है। इसलिए हम यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि भार्गवों का प्राचीन होने का दावा निराधार है।

यह कहा जाता है कि कभी भड़ौंच में हमारे १८००० परिवार थे। भार्गव मुगल बादशाह (१६३२) और बेगम जहानआरा (१६४७) के भी प्रमाण-पत्र ले आए थे। एक परिवार ने भड़ौंच के बन्दरगाह को डेढ़सौ वर्ष तक अपने हाथ में रखा था। औरंगजेब ने सन् १६६३ में एक भार्गव को भड़ौंच का शासक नियुक्त किया था।[२] कुछ जावा तक व्यापार करते थे, कुछ

१. श्री मुन्शीः—कुछ निबन्ध, 'माहिष्मती'

२. श्री धनप्रसाद मुन्शी—'भार्गव ब्राह्मणों का इतिहास'

दिल्ली में अधिकारी थे, कुछ विद्या के बल से राजाओं के गुरुपद को
भित करते थे। आज तो सब मिलाकर शायद ही ८० घर होंगे। उन
बहुत-से तो रुपया कमाने के लिए बम्बई और बड़ौदा रहते हैं। भड़ौं
रहनेवाले अधिकांश विद्या और धन की दृष्टि से जर्जर हो गए हैं, लेकिन
समय ज्योनार होती है, बरात निकलती है या उठावनी होती है तो
अपने यहाँ इस प्रकार मिलते हैं जैसे आज ही प्रातःकाल परशुराम ने पृ
को क्षत्रिय-रहित किया हो।

सौ वर्ष पहले भार्गव गुजराती ब्राह्मणों में प्रमुख थे। बहुत-से हाकिम
कुछ व्यापार करते थे; थोड़े-से ब्राह्मण समस्त गुजरात में विद्या से सम्म
पाते थे। बाकी के थोड़ा-बहुत कमाकर सारा समय जाति की मुखया
में लगाते थे। जैसा सब जातियों में होता है, उनमें से कुछ मूर्ख भी
लेकिन भार्गव अपने को होशियार, गर्वीले और हेकड़ समझते थे; कारगुज
दिखानेवाले भी बनते थे। भड़ौंच के जलवायु में शेखी मारने की प्रेरणा
का गुण है। हम भी उसकी प्रेरणा से वंचित न थे।

जैसे बुद्धिमान व्यक्ति धन-दौलत खो बैठने पर पूर्वजों की कीर्ति
अनुभव और अपने तुच्छ अज्ञान के सहारे जीवन बिताते हैं वैसे भार्गव
अपने दिन काट रहे थे।

: ४ :

इस बात का पता लगाने के लिए कि किस समय से इस जाति में टी
के मुन्शी प्रमुख समझे जाने लगे, भाई धनप्रसाद ने छः वर्ष तक प्रशंसनी
लगन के साथ इस विषय में खोज की है। यदि उन्होंने इतना परिश्र
सिद्धराज जयसिंह या समुद्रगुप्त के विषय में किया होता तो उन्होंने इतिहा
को समृद्ध बना दिया होता; लेकिन उनको पितृऋण से उऋण होना अधि
प्रिय लगा, इसलिए दस्तावेजों, याददाश्तों, हुक्मनामों और दफ्तरों की छान

बीन करके हमारे इतिहास को मुहम्मद तुग़लक के समय तक पहुँचा दिया। उस समय मुन्शियों के पूर्वज विश्वम्भरदास (या देसाई) ने विद्रोह दबाने में मदद देकर जागीर पाई थी।...कल्पना को तीव्र करनेवाली बात है। मैं देखता हूँ कि विश्वम्भरदास सिर से पाँव तक बख्तर पहने, सफ़ेद अरबी घोड़े पर सवार, हाथ में तलवार लिये, भड़ौंच के किले से पृथ्वी को कंपाते हुए बाहर निकल रहे हैं। 'गुजरात के नाथ' का रचयिता मैं अपने भड़ौंची काक और मंजरी के इस वंशज को तुरंत पहचान सकता हूँ।

लेकिन भाई धनप्रसाद द्वारा संशोधित इतिहास एक ऐसी बात को प्रमाणित करता है कि जिसके कारण उत्क्रान्ति के नियमों से श्रद्धा हट जाती है। एक वंश में छः सौ वर्ष से अधिकारी, वकील और जाति के मुखिया होते रहे; न वंश बिगड़ा न सुधरा; परिणामस्वरूप न तो कोई नाना फड़नवीस हुआ और न कोई विज्ञानेश्वर; और अंत में आज मैं! यह देखकर मुझे कुछ ऐसे जानवरों की याद आती है जो करोड़ों वर्षों से जैसे-के-तैसे चले आते हैं। बहुतों में बुद्धि थी, व्यक्तित्व था, हिम्मत थी, नेतृत्व था फिर भी ऐसा क्यों हुआ? मुझे इसका एक कारण जान पड़ता है; वह यह कि हमारे गर्व की जड़ें भृगुतीर्थ की भूमि से अलग नहीं होतीं। सैकड़ों वर्षों से जो किसीने नहीं किया वह मैं करने जा रहा हूँ। इसका क्या फल होगा? कौन जानता है कि आज यदि किसी दिन रेवा मां निमंत्रण दे तो क्या हो जाय!

ब्राह्मणोचित कार्य और व्यास का परम आदरणीय उपनाम मेरे पूर्वजों ने कब छोड़ा था, इसे प्रभु ही जानता है! देसाई विट्ठलदास उर्फ़ मधुभाई सं० १७५० के आस-पास सूबा थे—कहाँ के और कब, यह कौन जाने? और सं० १७६६ में सूबा का पौत्र 'वियासा' उपनाम से हस्ताक्षर करता है। लेकिन अभी तक इनमें न तो कोई मुंशी था और न कोई टीले पर आकर बसा था।

मुंशीगीरी पानेवाले तो नन्दलाल मुंशी थे, जो मेरी माँ की सातवीं पीढ़ी

के परदादा थे। जब मुग़ल बादशाहत का सितारा चमक रहा था तब नन्दला
पाठक दिल्ली में बादशाही दफ्तर में नौकर थे। उन्होंने धन भी अच्छ
कमाया था; भड़ौंच में हवेली बनवाई थी और उसमें मीठे और अंडी के ते
के लिए टंकियाँ बनवाई थीं। शाहंशाह मुहम्मदशाह आलमगीर कविता के
शौकीन थे और [illegible] पाठक फारसी के कवि थे। दोनों का परिचय हुआ
बादशाह आलम कविराज पर प्रसन्न हो गए और मुंशीगीरी बख्शी—भड़ौंच
परगने के हर गाँव पर एक रुपया के हिसाब से। उनकी दूसरी पत्नी लक्ष्म
'माताजी' के नाम से आज भी भड़ौंच के बड़े-बूढ़ों में सुविख्यात हैं। वे
बचपन से साधु-वृत्ति की थीं और भजन भी बनाती थीं। नित्य पार्थिव (मिट्टी
का शिवलिंग) बनाकर पूजा करती थीं। मैंने उनका पूजा का कमरा देखा
था। उनके पिता भड़ौंच जिले के दहेज गाँव के कारिन्दा थे, इसलिए उन्होंने
वहाँ एक हरिहर महादेव का मन्दिर बनवाया था। वहाँ आज भी माताजी
की मनौती की जाती है।

नन्दलाल मुंशी दिल्ली थे। एक दिन माताजी देव-सेवा से उठ गईं; नहाने के लिए पानी माँगकर नहाईं; हाथ की चूड़ियाँ फोड़ डालीं और दस रात सूतक मनाया और उसके बाद वैधव्य का पालन करने लगीं। सबके आश्चर्य की सीमा न रही। महीनों बाद जब खबर ले जाने वाले पहुँचे तो पता चला कि नन्दलाल मुंशी दिल्ली से आते हुए देवगढ़ बारिया के जंगलों में लुटेरों के हाथ से मारे गए और माताजी को तत्काल उनकी मृत्यु का पता चल गया था। माताजी सं० १७६६ तक जीवित थीं।

नन्दलाल मुंशी के पुत्र हरिवल्लभ के पहले एक ही पुत्री थी। जब सूबा मधुभाई 'वियासा' के पौत्र केशरदास के साथ उस पुत्री का ब्याह हो गया तो उसने कन्यादान में मुंशीगीरी भी दे दी। इसके बाद हरिवल्लभ ने फिर विवाह किया और उसका पुरुष-वंश चला। उसके आज के प्रतिनिधि मेरे मामा हैं। ता० ४ माह रबीउल-अव्वल सन् ११८५ हिजरी (१७६७ ई०)

'[illegible]' दिल्ली से 'शुबे अहमदाबाद' को हुक्म देते हैं कि मुंशी केशरदास को भड़ौंच की मुंशीगीरी 'बाफरजंदा' दुबारा दे दी जाय। इस प्रकार मेरी मातृ-पक्ष की कमाई हुई मुंशीगीरी पहिरावनी में पितृपक्ष को मिली, और मैं दोनों पक्षों से मुंशी बन गया।

इस मुंशीगीरी का इतिहास लिखने योग्य है। पेशवा, गायकवाड़ और ईस्ट इंडिया कम्पनी के झगड़ों से भड़ौंच जिले में जैसे गाँवों की संख्या बढ़ती-घटती वैसे ही हमारा भाग्य भी बढ़ता-घटता। अन्त में कम्पनी जीती। उसने घटाकर डेढ़सौ रुपया वार्षिक रहने दिये और मुंशियों की निरन्तर बढ़ती हुई जनसंख्या के परिणामस्वरूप उसके भी टुकड़े होते गए। आज किसी विरले को ही वर्ष में नौ आने दो पाई मिलते हैं। लेकिन बादशाह सलामत, आपने अपने मुबारक हाथों से हमें 'बाफरजंदा' मुंशीगीरी बख्शी है। पिछले सौ वर्षों में हमने इसके बटवारे के झगड़ों के लिए चार-पाँच बार ब्रिटिश कोर्टों में पैसे का पानी किया है और जी-तोड़ परिश्रम किया है और १६२८-२६ में जब अंतिम दावा दूसरी अपील में हाईकोर्ट में आया तब मुझे भी क्या-क्या सहना पड़ा था! कल्पना करो कि कोई न्यायाधीश मित्र छोटी-सी अपील सुनते हुए तीस प्रतिवादियों के झुण्ड में से पूरे तीन नामों के नीचे छिपे मुझको पहचान ले तो! लेकिन ग्रहदशा अच्छी थी। इस समय न्यायाधीश को आँखों से कम दिखाई दिया। विपत्ति दूर हुई।......अरे, लेकिन यह अधमता-भरी मनोदशा कैसी? नहीं। जब तक टीले का मुंशी है, जब तक उसके शरीर में आत्मा है, तब तक बादशाह की दी हुई बख्शीश के लिए हम अवश्य प्राण देंगे।........लेकिन तीन पीढ़ियों की समृद्धि की अधिष्ठात्री अंजाई माता की कृपा से नौ आने का बटवारा पाई-पाई हो तो! पीछे की पीढ़ियों को तो केस को बिना प्रिवी-कौंसिल में ले जाय छुटकारा नहीं मिलेगा। ठीक है, लेकिन तब कोई बाधा नहीं पड़ेगी, क्योंकि तब तो सुप्रीम

कोर्ट दिल्ली में ही होगा। और स्वनाम-धन्य बादशाह आलम की आत्
अवश्य पथ-प्रदर्शन करेगी।

: ५ :

इस समय के भड़ौंच का आभास दिये बिना टीले के आद्य मुंश
किसनदास का परिचय नहीं दिया जा सकता। और इस सूत्रधार के परिच
के बिना यह नाटक शुरू भी कैसे हो सकता है?

केशरदास के कन्यादान में मुन्शीगिरी लेने के बाद भड़ौंच के स्वाम
सामान्य स्थिति के थे। सबसे पहले 'गाज़ी बादशाह', उसके नीचे 'शु
अहमदाबाद', उसके नीचे नवाब भड़ौंच, उसके नीचे भड़ौंच परगने के पुश्तैन
अमलदार—देसाई और मजूमदार[1]। उसके बाद पूना से हर साल मराठी
फौज आती और चौथ उगाती; पेशवा के प्रतिनिधि भास्करराव वहाँ रहकर
शासन भी करते। बड़ौदे से गायकवाड़, कभी पेशवा की ओर से और कभी
स्वयं आकर अपना रोब जमा जाते। और इन सबके बीच में 'स्वनाम-धन्य'
ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापार करने के पवित्र विचार से, बम्बई की अदालत में
बैठी-बैठी खुराफात करती रहती।

जनवरी सन् १७६१ में अहमदशाह अब्दाली ने पानीपत के मैदान में
मराठों को खूब छकाया। बालाजी बाजीराव पेशवा हठी और वीर थे।
इतिहास में ऐसे वीर थोड़े ही मिलते हैं। उनके साम्राज्य के स्वप्न भंग हो
गए और कुछ दिन में उनकी जीवन-लीला भी समाप्त हो गई। उनका छोटा
भाई रघुनाथराव—राघोवा—मूर्ख था। बालाजी का एक पुत्र माधवराव पेशवा
बचपन में मर गया; दूसरे पुत्र नारायणराव को राघोवा ने मरवा डाला—
स्वनाम-धन्य कम्पनी के प्रतिनिधि मोस्टिन के सहयोग से। नारायणराव पेशवा

1. देसाई को आधुनिक कलक्टर तथा मजूमदार को तहसीलदार का
प्रतिरूप कहा जा सकता है।

की विधवा पत्नी के एक पुत्र पैदा हुआ और नानाफड़नवीस ने उसे पेशवा नियुक्त किया। दुष्ट राघोवा सूरत भाग आया और ६ मार्च सन् १७७५ को उसने साल्सेट, बसई और सूरत कम्पनी को देकर सहायता प्राप्त की। वह खम्भात गया और कर्नल कीटिंग की ओर हो गया। लेकिन इसका कोई लाभ नहीं हुआ। पूना के सेनापति हरिपंत फड़के ने अंग्रेजों को हराया। इस युद्ध में भड़ौंच की भूमि युद्धक्षेत्र हुई।

कम्पनी के हाथ मजबूत करने के लिए उस्ताद मोस्टिन बड़ौदा आया। गायकवाड़ को मराठा राज्यसंघ से अलग किया और उससे भड़ौंच परगनों की सरकार तथा कर का अधिकार ले लिया। जिस समय से 'शाहेआलम' ने केशरदास को भड़ौंच परगने की मुन्शीगीरी दी थी उस समय से दस वर्ष के भीतर तो जिसको मौका मिला वही भड़ौंच को लूटने लगा। नाना फड़नवीस ने ३ जून सन् १७७६को पंढरपुर की सन्धि की और भड़ौंच तथा उसके आस-पास का प्रदेश कम्पनी को दिया।

कुछ ही दिनों में कम्पनी ने पंढरपुर की संधि को तोड़ दिया और मरहठों की पहली लड़ाई शुरू हुई। दुष्ट महादजी सिंधिया पेशवाओं को धोखा देकर परदेशी के साथ मिल गया। नाना फड़नवीस की जीत हुई, तो भी महादजी की मदद से अंग्रेज नष्ट होने से बच गए। १७ मई सन् १७८२ को सालबई की संधि के अनुसार कम्पनी ने मराठा राज्यसंघ को धोखा देने के इनाम में बेचारे अनाथ भड़ौंच को महादजी को जागीर में दे दिया।

और इससे 'श्री कालिका चरणी तत्पर राणोजी सन् (?) महादजी शिंदे निरन्तर' (?) के प्रतिनिधि, सं० १८४८ (सन् १७९२) की श्रावण शुक्ला तीज को 'बमसम' (ब्राह्मण) मुन्शी केशरदास कबीलदास को कुछ गाँवों के 'इजारे' का पाँच वर्ष का पट्टा लिख देते हैं। सल्तनतें आती हैं और जाती हैं, लेकिन विश्वम्भरदास के वंशज जैसे थे वैसे ही अपनी भड़ौंची महत्ता में

मग्न, अपने कार्यभार को संभाले जाते हैं—वैसे ही जैसे सदियों से संभालते आते थे।

: ६ :

उस समय छोटा-सा आठ वर्ष का किशनदास मुंशी गिल्ली-डंडा खेलता था और पतंग उड़ाता था। कभी मार खाकर रोता था और कभी किसीको मारकर छिप जाता था। उसके बाबा कर का हिसाब संभालते हैं और पिता मराठी और फारसी साहित्य पढ़ते हैं; इसकी उसे कुछ भी चिन्ता नहीं थी। इसी समय रेवाबाई के साथ उसकी शादी भी हो गई। कालान्तर में इस रेवाबाई ने 'जीजीमा प्रथम' का सम्माननीय उपनाम पाया। मैंने दो-तीन वृद्धों को कहते सुना है—'जीजीया जैसा तो कोई हुआ ही नहीं—स्फटिक पत्थर के समान गौरवर्ण, ठिगनी और कुछ-कुछ साँचे में ढली हुई-सी!'

किशनदास बड़े हुए और मराठी और फारसी में पारंगत बने। उनके भार से कम्पनी की नीयत दग़ाबाज महादजी सिंधिया के पुत्र दौलतराव सिंधिया के राज्य को हड़पने की हुई। गायकवाड़ अपने मराठी शत्रुओं का विनाश करने के लिए परदेशी को पूरी सहायता दे रहा था।

जनरल वेलेज़ली ने ६ अगस्त १८०३ को हुक्म निकाला—

Upon receipt of this letter, you will commence your operations against Dowlut Rao Sindhia's fort of Broach. You will not suffer these operations to be interrupted or delayed by any negotiations whatever.

२५ अगस्त को कर्नल वुडिंग ने घेरा डाला। २६ अगस्त को वह जनरल को लिख भेजता है—

I have the honour to inform you that at three

o'clock P. M. I stormed the fort of Broach and carried it with little loss, although the Arabs made considerable resistance, particularly on our entering the breach.

जब शहर में घेरा डाला जा रहा था लल्लूभाई मजूमदार बैठे गप्पें हाँक रहे थे। आदमियों ने खबर दी कि दुश्मन चढ़ आया है, लेकिन वे तब भी गप्पें मारते रहे। बाद में तो गप्पें अधूरी ही रह गईं। भड़ौंच का पतन हो गया है, यह खबर उन्हें तब मिली जब वे स्वयं अपनी हवेली में पकड़ लिये गए। पकड़ भले ही लिये गए हों, परन्तु गुजराती भाषा को तो समृद्ध कर ही गए—'लल्लूभाई है—बातों-ही-बातों में भड़ौंच खोने बैठा है।'

जब मैं अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना की बात पढ़ता हूँ तो क्रोध से मेरा खून खौलने लगता है—अंग्रेजों के लिए नहीं वरन् सिंधिया, गायकवाड़ों और लल्लू भाइयों के लिए; और ऐसा लगता है कि इन सबके विनाश में ही आर्यावर्त की विजय थी।

कुछ दिनों भड़ौंच में व्यवस्थित शासन रहा और मुन्शियों को कुछ रास्ता दिखाई दिया। जुगलदास मुन्शी ने लगान वसूल करने की कला और फारसी के ज्ञान से अंग्रेजी शासकों का प्रेम प्राप्त किया। उनके पुत्र किशनदास ने—वे कभी-कभी कृष्ण मुन्शी के नाम से भी हस्ताक्षर करते थे—सन् १८०६ में भड़ौंच की अदालत में फारसी 'राइटर' की नौकरी कर ली। १८१४ में उन्होंने अदालत की सनद पाई और वकालत शुरू की। १८१७ में सूरत के प्रान्तीय अपीलकोर्ट की सनद प्राप्त की। १८३१ में वे थाना में प्रमुख सदरअमीन हुए। इसी बीच में बम्बई की सदर दीवानी अदालत (हाईकोर्ट) के मुख्य न्यायाधीश जोन रोमर, 'मैं उन्हें पच्चीस वर्ष से जानता हूँ,' लिखकर प्रमाण-पत्र देते हैं—

'He (Kishandas) is a most excellent and useful public servant.'

जब-जब ऐसे प्रमाण-पत्रों को पढ़ता हूँ तब-तब मेरे प्राण घुटने लगते हैं। हजारों वर्षों के विद्याव्यसनी और सैकड़ों वर्ष का शासनकार्य का अनुभव रखनेवाले, वंश के गर्वीले, विद्यावान और बुद्धिमान प्रतिनिधि के भाग्य में जोनरोमर की सिफारिश से अन्त में मुंसिफगीरी लेना ही लिखा था। किशनदास मुन्शी गोरे शासकों की वफादारी की विरासत पुत्रों को भी सौंपते गए। इस विरासत को बचाने के लिए एक ने भविष्य को बेच दिया और दो जान से चले गए। इतनी जागरूकता, इतनी कर्तव्यनिष्ठा, राज्य-व्यवस्था का अंग बनने की ऐसी भावना, इन सबका उपयोग इन्होंने विदेशी राज्य की स्थापना में सहायक होने में किया। गोरे गर्व करते हैं कि हमने साम्राज्य स्थापित किया। लेकिन इस साम्राज्य की स्थापना में किशनदासों ने अपना बलिदान दिया, क्या इसका किसी को ध्यान आता है?

किशनदास मुन्शी समझदार वकील थे। उन्होंने पैसा कमाया, हवेली बनवाई, टीला अपना किया जमीन खरीदी और जाति, गाँव और अदालत में प्रतिष्ठा प्राप्त की। भड़ौंच में जब अन्तिम सती हुई थी तब वे स्वयं इस समारंभ में सबसे आगे आकर खड़े हुए थे। २७ जुलाई १८३२ में वे थाना में स्वर्गवास हुए।

ईंट-पत्थरों और खेतों की संख्या से किसीकी प्रतिष्ठा का अनुमान लगाना तो पैमाइश करनेवालों को ही मुबारक हो। मैं तो उनकी प्रतिष्ठा का अनुमान अपने संस्कारों में व्याप्त उनके प्रताप से ही लगा दूँगा।

बचपन में जब मैं उनकी हवेली के बड़े कमरे में पढ़ता था तब वे बहुत दफा मेरे सामने आते थे—टीले के अधिष्ठाता के रूप में। चन्द्रशेखर महादेव के जिस अद्भुत लिंग को उन्होंने वकालत की फीस के बदले मांग लिया था, उसकी पूजा करते हुए उनको मैं घर बनाकर देव की स्थापना करनेवाले

और शंकर-भक्त के रूप में देखता। उस समय अपनी धारणा के अनुसार मैं इस बात की परीक्षा भी करता कि शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष में इस लिंग के रंग में अन्तर हो जाता है। उस समय मुझे ऐसा लगता था जैसे वे मुझे देख रहे हों। उनकी आंखों में मैं एक ही प्रश्न पढ़ पाता—"क्या तू मेरे योग्य होगा?" इस जीवित लिंग का प्रभाव अकेले मेरे ही ऊपर पड़ा हो, ऐसा नहीं। सौ वर्ष तक टीले के अनेक मुन्शियों ने दन्तकथा के पात्र के समान इस व्यक्ति के योग्य होने का प्रयत्न किया है। मैंने उनकी पाँचवीं पीढ़ी के एक भूखे मरते हुए मुन्शी को, पास में पड़ी हुई वस्तु को चुराने की इच्छा होते हुए भी, 'मैं किशनदास मुन्शी का लड़का हूँ', यह सोचकर सत्य का अनुकरण करते देखा है। काल की गति और आधुनिक वातावरण के कारण हमारे कुल में ऐसा जीवन आज नहीं रहा, लेकिन मेरे हृदय में तो जैसा था वैसा ही है। आज यदि मैं बेहोश पड़ा हूँ और पुत्र अन्तिम सन्देश लेने के लिए आये और मेरे मुँह से निकल जाय, 'भाई! ऐसा कोई काम न करना जो किशनदास मुन्शी के पुत्र को शोभा न दे,' तो मुझे आश्चर्य न होगा। वैदिक ऋषि की यह पुरानी परन्तु सुन्दर कल्पना समझ में आ जाती है कि ये मरनेवाले पड़बाबा नहीं, मेरे जीते-जागते पिता हैं, पितृलोक में रहकर ये मुझमें रुचि रखते हैं, मेरे तर्पण की बाट देखते हैं।

: ७ :

किशनदास मुन्शी के बड़े पुत्र काशीराम उस समय के बड़े आदमियों के नमूने थे। बहुत बार जब मैं दिन में बारह घण्टे काम करके थका-माँदा, सिरदर्द की चिन्ता किये बिना रात को भाषण देने जाता तो मुझे काशीराम काका से ईर्ष्या होने लगती।

उनको वर्ष में एक ही बार महत्व का काम करना होता था। उसके लिए महीनों पहले तैयारियाँ होती थीं। सूरत से भभकते हुए कुसुंभी रंग की

दो पगड़ियाँ आतीं, दो नागपुरी धोतियाँ आतीं, दो मलमल के अंगरखे सिल-धुलकर और कलफ होकर आते। उस समय सूरत आज जितना नजदीक नहीं था कि सवेरे जाकर दोपहर को लौट आया जाय। एक बैलगाड़ी हाँकनेवाले और एक मुनीम को इसके लिए कितने ही दिन की यात्रा करनी पड़ती।

लेकिन छुटकारा काम करने ही पर था। काशीराम काका तीन-चार मोटे सरकंडे ले आते और चाकू घिसकर सवेरे उनकी कलम बनाने बैठते। इस प्रकार थोड़े दिनों में बारह-पन्द्रह कलमें तैयार होने पर उनकी आजमाइश करने लगते।

इस भागीरथ काम के लिए कितने दिन दौड़-धूप होती। पगड़ी बँधी या नहीं? कैसी लगती है? कलम बनी या नहीं? कितनी—दो-तीन-चार? बैलों के सींगों पर चाँदी का बर्क चिपकाया या नहीं? बहली की छतरी नई हुई या नहीं? धुरे में तेल दिया गया या नहीं?

वह दिन आता—पूरे वर्ष का एक सुनहला दिन। काका उठते, नहाते, सन्ध्या करते, बाद में पटलीदार नागपुरी धोती पहनते, दोनों में जो अच्छा होता वह अंगरखा पहनते; दोनों में उस पगड़ी को डाटते जिस पर आँखें जाकर जम जायँ। नई चोंचवाला जोड़ा पहनकर, तीन-चार कलम लेकर, मुनीम को साथ ले, शुभ शकुन देख, टीले से बाहर निकल बहली में जा विराजते और सींग हिलाते हुए बैल उन्हें कचहरी में ले जाते—सारा गाँव देखता रह जाता।

कचहरी में मुनीम उनको हाकिम के सामने ले जाता। काका वहाँ सम्मान पाकर, अच्छी-से-अच्छी कलम निकालकर, हाकिम के सामने रखे हुए कागज पर अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जमे हुए अक्षरों में लिखते—'मुन्शी काशीराम करसनदास मुन्शी बकलम खुद।' मुनीम तुरंत मुन्शीगीरी के १५० रुपया गिन लेता। हँसते-हँसते सफलता के सन्तोष से प्रसन्न काशीराम भाई कचहरी में से उतर, बहली में बैठ घर आते। ...और आगामी

वर्ष क्या-क्या तैयारी करनी है, इसी विचार में डूब जाते।

ऐसा कहा जाता है कि मँझले भाई अनूपराम मुन्शी (सन् १८०७-१८४१) सारे परिवार में सुन्दर, तेजस्वी और आन वाले थे। उन्होंने भी बाल्यावस्था में भड़ौंच की अदालत में नौकरी की और सन् १८३६ में 'जज' के 'रीडर' हुए और तीस वर्ष की उम्र में बड़ौदा के 'रेजीडेन्ट' के 'नेटिव एजेन्ट' नियुक्त हुए। उस समय अँग्रेजी हाकिमों के रौब-दौब का पार न था और उनका भारत से सम्पर्क इन नेटिव एजेन्टों द्वारा होता था; इसलिए इनका भी भारी रौब-दौब था।

अनूपराम वफ़ादारी की प्रतिमूर्ति थे। जब कम्पनी और गायकवाड़ के बीच नर्मदा-किनारे का झगड़ा चला तो कम्पनी की ओर से सारा कार्य-भार अनूपराम को ही सौंपा गया था। गायकवाड़ उन्हें कर्तव्यभ्रष्ट करने के लिए रिश्वत देने लगे, लेकिन उन्होंने उसे ठुकरा दिया। उनकी मेहनत से कम्पनी जीती और उसे नर्मदा-किनारे की एजेंसी मिली। इस नमक-हलाल हाकिम को जागीर में गाँव देने की चर्चाएँ भी चलीं, लेकिन १८ सितम्बर सन् १८४१ को अचानक अनूपराम खून डालकर मर गए। कहा जाता है कि उन्हें या तो गायकवाड़ के आदमियों ने जहर दे दिया था या उन पर जादू कर दिया था। वे मर गए इसलिए कम्पनी ने गाँव देना मुल्तवी कर दिया, परंतु उनकी विधवा और लड़के को कम्पनी बहादुर ने अत्यंत उदारतापूर्वक एक छोटी-सी पेंशन बाँध दी।

उनके लिए कहा जाता था कि वे कभी झूठ नहीं बोले।

अनूपराम की एक प्यारी बहन थी—तापी बूआ—बड़ी सुन्दर और संस्कारी। परिवार के लोगों में गाने-बजाने का बड़ा शौक था। बड़ौदा कैम्प में और भाई के घर में रहकर चुपचाप छिपकर उस्तादों के कण्ठ-स्वर सुनते-सुनते उसे शास्त्रीय संगीत आगया था। गरबा, कथा-वार्ता और विवाह में गाई जानेवाली गालियों के अतिरिक्त यदि भार्गव की लड़की कुछ और गाना

सीखती तो आसमान टूट पड़ता था। गनीमत यह थी कि चोरी से छिपकर सीखी हुई इस विद्या से सब लोग अपरिचित थे।

तापी बूआ की शादी आशाराम फूफा के साथ हो गई। टीले के ही एक घर में उनकी अटारी थी। फूफा बड़े भारी गवैये थे और बहनोइयों के साथ बैठकर हमेशा गाते-बजाते थे। कुछ दिन बाद उन्हें पता चला कि उनकी स्त्री भी सब राग गा सकती है और धीरे-धीरे इच्छित तानें ले सकती है। पति-पत्नी को इस बात का बड़ा चाव था कि वे साथ मिलकर मुक्त कंठ से तानें लें, लेकिन मुंशियों और मुंशायनों से भरे घर में किसकी मजाल थी जो यह धृष्ठता करता।

चौमासा था। रात-दिन मूसलाधार वर्षा होती थी। उन दिनों इस दम्पति को अवसर मिला। एक दिन जब आधी रात के बाद गर्जन-तर्जन के साथ वर्षा हो रही थी तब दोनों जने अपनी अटारी में ललकारने लगे। दोनों राग-रागिनियों में रसमग्न हो गए। वर्षा ने स्वर मिलाया। दोनों नाद ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए समाधिस्थ हो गए।

रात के पिछले प्रहर में वर्षा तो बन्द हो गई पर उन दोनों की संवादी तानों की तरंगें सारे टीले को नचाती रहीं। काशीराम भाई की नींद खुली। नरभेराम भाई बिस्तर में पड़े-पड़े तन्द्रा में ताल देने लगे। परिवार की स्त्रियाँ स्तब्ध होकर इस धृष्ठता के प्रदर्शन को देखने लगीं।

गानेवालों को ख्याल आया और वे रुके। सवेरे जब वे नीचे आए तो उनके हृदय धक-धक कर रहे थे। लेकिन भाइयों ने बहन को धन्यवाद और बहनोई को मज़ाक से लाद दिया। उस समय से बहन और भाई को बिना परिवार की मर्यादा की परवाह किये महफिल में भाग लेने का अधिकार मिल गया।

हमारे वंश में अनेक संगीत-विशारद हो गए हैं, परन्तु शास्त्रीय संगीत में ऐसी प्रवीण स्त्री तो केवल तापी बूआ ही थी। सौ वर्ष में परिवार में

एक दूसरी प्रवीण स्त्री भी है, लेकिन दुर्भाग्य से उसे पति के नाटकों के भद्दे गानों के सिवाय कुछ और आता ही नहीं !

: ८ :

नरभेराम मुंशी की दो तसवीरें मेरी आँखों के सामने घूमती हैं—एक चित्रकार की और दूसरी अस्सी वर्ष पहले के किसी फोटोग्राफर की । एक आधी; दूसरी बैठे हुए, पूरी—अत्यन्त गौर वर्ण, बड़ा भारी और ठिगना शरीर; गला भी अलग न दिखाई दे ऐसे जबड़े; छोटे और मोटे हाथ और पैर; तीक्ष्ण, तेजस्वी और उग्रतापूर्ण आँखें; गर्व से फूली हुई छोटी नाक; चौड़े-चपटे बड़े कान; गर्व और अधिकार से दीप्त भयभीत बनानेवाला मुख; मज़बूत लम्बा असली काश्मीरी कढ़ाव का कोट; बड़ी, कई पेचों की, तिरछी रखी हुई मुग़ल पगड़ी; नागपुरी धोती जोड़ा । इस प्रकार इन दोनों तसवीरों में से नरभेराम मुंशी ऊपर आ जाते हैं । साथ ही उग्र और स्वाभिमानी, विशाल हृदय के, बड़प्पन में रुचि रखनेवाले, प्रचण्ड परन्तु अल्पजीवी, राग, द्वेष और महत्वाकांक्षा से प्रेरित, अपनी मौज में मस्त रहनेवाली निर्भय आत्मा के भी दर्शन होते हैं। दैव ने व्यर्थ ही इस प्रखर प्रताप को भार्गवों की मुखिया-गीरी और टीले के स्वामीपन में जकड़ कर मार डाला ।

जब थाना में अचानक हृदय की गति रुकने से पिता का स्वर्गवास होता है तब तेरह वर्ष के नरभेराम (जन्म सन् १८१६) दाह-संस्कार करते हैं; उसके बाद भड़ौंच आते हैं । ये लड़ाके, मिजाजी और जिद्दी हैं। काशीराम को अधिक व्यावहारिक ज्ञान नहीं है; अनूपराम अपने कार्य में लगे हैं; इसलिए कुटुम्ब में रौब-दौब और शान-शौकत की जिम्मेदारी ये ले लेते हैं । इनकी इच्छा के सामने सब झुक जाते हैं। इन्हें किसी चीज की आवश्यकता हो तो पूरी होनी ही चाहिए। किसीकी मज़ाल नहीं जो इनके सामने पड़े ।

अठारह वर्ष की उम्र में परिवार के प्रतिष्ठा-मन्दिर—भड़ौंच अदालत—

में मर जाता है। जोइताबाई बाबा नफरा के हाथ से छूटकर बम्बई सरकार की शरण में जाती है।

लेकिन बाबा नफरा बड़ा उस्ताद है। बड़ौदे और रेजीडेंसी के हाकिमों और बम्बई गवर्नर की कौंसिल के सदस्यों को वह खिला सकता है। असहाय सेठानी की फरियाद कोई नहीं सुनता।

इसी बीच मि० एन्ड्रूज के स्थान पर वह लेफ्टिनेण्ट कर्नल आउट्राम नियुक्त होता है जिसने पीछे चलकर सत्तावन के विद्रोह में ख्याति पाई थी। वह सिपाही है। उसे अपनी सचाई का अभिमान है। ब्रिटिश राज्य नीति पर स्थापित हुआ है और उसी पर स्थिर रखना चाहिए इस बात का तो उसे अद्‌भुत ख्याल है पर उसे सत्य की जाँच करना नहीं आता। गवाहियों की छानबीन करने की शक्ति उसमें तनिक भी नहीं है। चलते हुए आदमी उसे सब तरफ से फुसला जाते हैं। तनिक भी वहम होता है कि वह आक्षेप करता है; थोड़ी-थोड़ी देर में, अपनी सज्जनता में निमग्न होकर, पन्ने-के-पन्ने भरकर चतुराई दिखा सकता है। वह आते ही बड़ौदे की गड़बड़ को शान्त करने का निश्चय करता है। वह जोइताबाई का पक्ष लेता है। बाबा नफरा को गायकवाड़ से पकड़वा देता है; उसके घर को ज़ब्त कर लेता है; उसके बहीखातों और कागज़-पत्रों को अपने कब्जे में करता है; साथ ही मुनीम द्वारा अंग्रेजी हाकिमों और दूसरे व्यक्तियों को दी हुई रिश्वत की जाँच शुरू करता है। कुछ दिनों में वह चारों ओर वहम और आक्षेप के झूठे-सच्चे झाग उठा डालता है।

सन् १८५० में उसके सामने बाबा नफरा के कागजों की जाँच होती है। उस समय गायकवाड़ की ओर से शंभुराम खुशाल कोतवाल हाज़िर है। शंभुराम स्वयं भार्गव ब्राह्मण है; स्वभाव से बड़ा ही तेज़ है। एक नोटबुक उसके हाथ लग जाती है। उसमें लिखा है कि '२००१) सौभाग्यवती बाई साहब को दिये और १००) लाड़कोबा को देने के लिए उसके साहब को

दिये ।' शंभुराम आदि चुपचाप परस्पर बात करते हैं—'इसमें एन्ड्रूज साहब का नाम है ।' आउट्राम को वहम हो जाता है। इस बात में रेजीडेंट का नाम कैसे आया ? शंभुराम कहता है कि 'यह तो बाबा नफरा द्वारा दी हुई रिश्वत का हिसाब है । सौभाग्यवती बाई साहब से अभिप्राय है एंड्रूज साहब की रखेल से और लाड़कोबा से अभिप्राय है एन्ड्रूज के मुंशी से । लोग समझते हैं कि यह पैसा एं ज साहब की जेब में गया ।

पता चल गया' । आउट्राम साहब का मिजाज़ गर्म होता है। वह रोज़नामचे की नक़ल और आक्षेप दोनों ३१ अगस्त १८५० के पत्र के साथ सूरत में एन्ड्रूज के पास भेज देता है ।

एन्ड्रूज न्यायाधीश है; वहम, आक्षेप और सबूत तीनों के भेद को समझता है और कड़ा पत्र-व्यवहार करता है । 'सौभाग्यवती है तो दुलहिन किसलिए ? और इस रोजनामचे के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है ? इस विषय में मेरे ऊपर आक्षेप किसलिए करते हो ?'

लेकिन आउट्राम साहब को एन्ड्रूज पर पूरा सन्देह है। वह कानून, वकील और वकीलों की कार्यप्रणाली की निन्दा करता है और अपने को धर्मराज का अवतार मानता है । उसके मस्तिष्क में प्रामाणिकता का अंश नहीं । वह चाहे जैसा हास्यास्पद अनुमान लगा सकता है और पीछे गर्व कर सकता है—'I was not an Old Bailey attorney; I was a British officer.'

नरभेराम २८ सितम्बर को एण्ड्रूज का पत्र लेकर आउट्राम के पास आता है—'मेरे शिरस्तेदार को सभी बहियाँ देखने दो ।' आउट्राम उदारता से बहियाँ देखने का हुक्म देता है । शम्भुराम, कोतवाल और नेटिव एजेंट सूरजराम की उपस्थिति में नरभेराम मुन्शी बहियाँ देखता है और जाँच करके नोट्स लेता है । अपने काका वकील रघुभाई मुन्शी की मदद लेता है । शम्भुराम और सूरजराम को यह अच्छा नहीं लगता; इससे उसको फँसाने

का षड्यन्त्र होता है। शम्भुराम कोतवाल आउट्राम को अनेक प्रकार से समझा आता है। दो-चार दिन बाद नरभेराम को बड़ौदे में रहना भी भयोत्पादक लगता है। वह तुरन्त काम समेट लेता है और बहियों की रकमों को नोट करके सूरत आता है।

बाद में आउट्राम और एण्ड्रूज के बीच जोर का पत्र-व्यवहार चलता है। एण्ड्रूज कहता है—'तुमने मेरे शिरस्तेदार को आवश्यक सहायता नहीं दी, जो नोट्स लिये उन पर गवाही नहीं करवाई; उसके काम में दखल दिया, उसके चारों ओर सूरजराम और शम्भुराम ने षड्यन्त्र रचा।' आउट्राम साहब भी शम्भुराम और सूरजराम के कहे अनुसार करता है। वह सबसे लिखित बयान ले लेता है—'नरभेराम गुण्डा है। Wily native है। उसने सौभाग्यवती बाई साहब को छोड़कर दूसरी रकमें लिखीं। उसने मेरे नेविट एजेंट के ऊपर जासूस रखे। उसने हाकिमों के सामने कहा कि मैं तो फौजी आदमी हूँ; इस सम्बन्ध में कुछ नहीं समझता, मैं तो कल उठकर चला जाऊँगा। कल जब कोई 'सिविलियन' आयगा तो वह सबकी खबर लेगा; मैं—मैं—आउट्राम जोहताबाई के साथ मिलकर पैसा खा गया हूँ और मेरी जाँच के लिए कमीशन नियुक्त होकर आनेवाला है। इस दुष्ट शिरस्तेदार ने मेरा और गायकवाड़ का अपमान किया है। सारा मामला बम्बई के गवर्नर लार्ड फाकलेण्ड के पास जाता है। निर्जीव प्रमाणों के आधार पर अंग्रेजी अफसर के ऊपर आक्षेप करने के लिए लार्ड फाकलेण्ड और बम्बई की कौंसिल आउट्राम को धिक्कारती है। शिरस्तेदार को बहियों की जाँच-पड़ताल के लिए बड़ौदा भेजा गया, इसके लिए एण्ड्रूज को फटकारती है और 'नेटिव' नरभेराम ने अनुचित कार्य किया है, इस बात को बिना ज्यादा छानबीन के मानकर उसे दण्ड देने के लिए कहा जाता है।

आउट्राम साहब के गुस्से का पार नहीं। षड्यन्त्र के मामलों में उसे अनुमति नहीं दी गई, इसलिए वह बम्बई के गवर्नर को तीखे पत्र लिखता है;

और फलस्वरूप उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

यह सारा झगड़ा लन्दन में कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास जाता है। आउट्राम ने मूर्खता की, इस बात को सब मानते हैं; पर इस बात की सिफारिश की जाती है कि उचित अवसर पर उन्हें कोई अच्छी नौकरी दे दी जाय। एण्ड्रूज तो मर गए, इसलिए कुछ कहना ही नहीं है। प्रस्ताव होता है कि नरभेराम शिरस्तेदार को ऊँचा ओहदा न दिया जाय।[1]

इस प्रकार दो गोरे भैंसे लड़े और बीच में काले शिरस्तेदार का कचूमर निकल गया। उन्होंने मुन्सिफ की परीक्षा दी, परन्तु उनके भाग्य में मुन्सिफगीरी लिखी ही न थी। क्रोध के आवेश में वे सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर भड़ौंच आते हैं। इस घटना के कारण शम्भुराम और नरभेराम में जो शत्रुता हुई वह तीन पीढ़ियों तक चली।

लेकिन आउट्राम की जाँच के फलस्वरूप बाबा नफरा को सात वर्ष की सजा हुई और गायकवाड़ ने जोहता सेठानी को सम्मान-सहित बड़ौदे में रहने दिया।

३१ वर्ष की उम्र में नरभेराम टीले का स्वामित्व भोगते हैं।

वे उठते हैं, खिड़की में खड़े होकर भृगुभास्करेश्वर की फहराती हुई पताका के दर्शन करते हैं। जिस समय वे खिड़की में बैठते हैं उस समय उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके कोई टीले पर नहीं आ सकता। केवल उनसे मिलने आनेवाले ही पास के चबूतरे पर बैठकर सम्मानपूर्वक उन्हें देखा करते हैं।

घर के बीच के चौक में बड़ी संगमरमर की चौकी पर बैठकर वे स्नान करते हैं। उसके बाद श्वेत रेशम की धोती पहनकर पहली मंजिल पर महादेवजी के मंदिर में जाते हैं; सन्ध्या करते हैं; कभी-कभी महादेवजी के लिंग को भक्तिभाव से नहलाते हैं; कभी रुद्री या चण्डी-पाठ करते हैं।

१. Parliamentary Paper; the Baroda Khutput.

सन् १८५६ के पहले की बात है। एक बार वे सन्ध्या करने बैठे हैं कि एक जोगी आता है। वह रोकने से भी नहीं रुकता। उसने नरभेराम का नाम सुना है और उसे आज उनसे मिलना है।

मुन्शी पूछते हैं—'कौन हो?' जोगी कहता है—'मुझे पांच हजार रुपया चाहिए।' 'पांच हजार!' 'हाँ।' इस प्रकार दोनों थोड़ी बात करते हैं और नरभेराम उठकर घर में जितने भी रुपये हैं, गिन देते हैं।

बाद में घरवालों को पता चलता है। लोग धीमे-से एक-दूसरे से बात करते हैं। यह जोगी १८५७ के विख्यात् महापुरुष नाना साहब थे। यह बात मुझसे कही गई तो गुप्त रखने के लिए ही। पचास वर्ष पहले मुन्शी ने सत्तावन के विद्रोहियों को मदद दी थी, इसका भय सबको लगता था।

सन्ध्या करने के बाद नरभेराम भोजन करने बैठते हैं। दया मा स्वयं ही उनके लिए परोसती है; दूसरे किसीकी हिम्मत नहीं। खाते-खाते जिस लड़के को वे बुलाते हैं, उसके होश उड़ जाते हैं। वह जमीन पर सो जाता है।

उठकर वे नया कलफ किया हुआ बारीक मलमल का अंगरखा पहनते हैं। उनके कपड़े प्रति सप्ताह सूरत से धुलकर आते हैं और एक बार शरीर में डाला हुआ कपड़ा दुबारा धोबी से धुलाए बिना वे नहीं पहनते। उसके बाद नये मन्दिर के सामने वाले दाजी मामा के घर में जाकर रास्ते पर पड़नेवाली खिड़की में वे बैठते हैं। वहाँ ज्योतिषी आता है तो ग्रह देखता है; कोई हकीम या वैद्य आता है तो नुस्खे तैयार कराये जाते हैं। उसी मंजिल पर रसायन बनाने की भट्ठी भी चलती है।

एक कागज पर रसायन बनाने की विधि और दुश्मन को वश में करने के मन्त्र—एक फारसी में और दूसरे संस्कृत में—लिखे हुए मैंने देखे हैं। मुझे यह भी याद पड़ता है कि उसमें सुन्दर अक्षरों में कुछ अंग्रेजी वाक्य भी थे।

बाद में लोग आने लगते हैं। जाति की मुखियागीरी होती है। गाँव के झगड़े तय होते हैं। गाँव में कोई गवैया आता है तो वह दो राग सुनाकर सेला पाता है; कोई शास्त्री आता है तो चार दिन का आतिथ्य पाता है। कलक्टर कुछ अनुचित काम करता है तो नरभेराम उसे समझा आने का वचन देते हैं। एक बार कलक्टर ने चाहा कि श्मशान को हटाकर दूसरी जगह कर दिया जाय। वे कह आए—'खबरदार! इस दशाश्वमेध पर बलि राजा ने यज्ञ किये थे; यह हमारा स्वर्ग का द्वार है, यह नहीं हट सकता।' विदेशी कलक्टर इस बात को समझा या नहीं यह तो कोई नहीं जानता, परन्तु श्मशान का हटना मुल्तबी रहा।

उसके बाद खास मित्र आते हैं—भड़ौंच के देसाई। कभी दोनों के सहारे भड़ौंच की प्रजा के हृदय में रस उँडेलती वेश्या आती है। कौनसी जान, यह याद नहीं, शायद अमीरबख्श। यह भी परिवार का अंग है। लड़के भी खिलाती है और जब-तब किसीको रागिनी भी सिखा जाती है। गाते-बजाते रात हो जाती है। जब तक नरभेराम मुन्शी खिड़की में बैठते हैं, तब तक बड़ी सड़क से प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त और कोई नहीं जाता। प्रतिष्ठित व्यक्ति भी जाते-जाते मिल ही जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो कम-से-कम नीचे से नमस्कार करके माफी माँग लेता है। तनिक भी कोई सफाई देता है तो उनकी प्रचण्ड आवाज़ सिंह के समान गरजती है और सब थर-थर काँपने लगते हैं।

रात को वे देर से घर आते हैं और अकेले ही दीवानखाने में सो जाते हैं। दया मा साध्वी हैं पर उनका व्यक्तित्व कम नहीं। पति विलासी है, इसे वे जानती हैं पर सच्ची स्त्री की उदारता से वे सब निभा लेती हैं। एक बार एक दुष्ट स्त्री उनको जाल में फँसाती है। उस समय दया मा धोती पहनकर और सर पर साफा बाँधकर उस दुष्टा की खिड़की में पत्थर रख आती हैं। उनकी उदारता की भी मर्यादा है। मुसलमान जान आती है;

एक कोई पारसी स्त्री भी आती है । वे इस भ्रष्टता को नहीं सह सकतीं और पति के साथ शारीरिक सम्बन्ध का त्याग करती हैं ।

प्राचीन प्रथा के अनुसार इस पारसी स्त्री का भी परिवार में स्थान है । वह समय-समय पर आती है और लड़के खिलाती है । घर से उसको बराबर खाना जाता है । जब आमों के दिन आते हैं तब वह छोटे अमृत-वान में आफूस के आमों (आमों का एक प्रकार) का मुरब्बा डालती है और 'भाई' (नरभेराम) के लिए ले आती है ।

मुझे याद है कि मैंने उसे देखा है । जब मेरे पिताजी मरे थे तब वह रोने आई थी। पूर्ण वृद्धावस्था में भी उसके मुख पर एक सौन्दर्य की रेखा थी । उसने सबकी कुशल पूछी, मुझे प्रेम से सान्त्वना दी और रो-रोकर अपनी आँखें लाल कर लीं ।

गत शताब्दी के इस अग्रगण्य गुजराती की वीरता, बड़प्पन और उदारता की बहुत-सी बातें भड़ौंच और सूरत में प्रचलित थीं । उन्हें मैंने सुना था । वे सन् १८६६ में चल बसे । उनके तीसरे पुत्र मेरे पिता माणिकलाल (जन्म सन् १८५३) उस समय सोलह वर्ष के थे ।

जब नरभेराम मुन्शी मरने लगे तब दया मा को बड़ा दुःख हुआ । उनको पति से पहले मरने की लालसा थी । उस लालसा को पूरा करने के लिए वे महादेवजी से प्रार्थना कर आईं । दैवयोग से वे एकदम बीमार पड़ीं और पति की मृत्यु से पहले ही सौभाग्य-सिन्दूर लेकर स्वर्ग चली गईं ।

: ६ :

काशीराम काका के पुत्र नवनिधिराम भी वकील थे । वे टीला छोड़कर पास ही के मुहल्ले में एक हवेली में जा रहे थे । वे स्वभाव से सतोगुणी और सन्तोषी थे ।

अनूपराम मुन्शी के दो पुत्र हवेली में ही रहते थे । वे अलग थे, पर

जायदाद का बँटवारा नहीं हुआ था। बड़े लड़के जमियतराम सबसे बड़े थे। जब से मैंने उन्हें देखा था, अपंगु-से ही थे। वे दिन-भर छज्जे में बैठते, पान चबाते और समय-समय पर अपनी पिचकारी से नीचे जानेवाले स्त्री-पुरुषों को रंगा करते। उनको लोग 'छज्जे के मुन्शी' के नाम से पहचानते थे।

उनके छोटे भाई हरदेवराम (१८३४–१९०३) का चित्रण भाई नरसिंह राव ने 'स्मरण मुकुर' में किया है। वे गत समय के गुजरात की एक विशिष्टता थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की प्रतिष्ठामूर्तियों का दर्शन कराते थे। उनका ठाट-बाट, उनके दोष और उनके संस्कार उनके समय से बाहर नहीं मिल सकते। वे १८३४ में पैदा हुए और एलफिन्स्टन कालिज में पढ़े। मैंने यह बात सुनी थी कि वे खेड़ा में मास्टर थे और मणिभाई जशभाई उनके शिष्य थे। बाद में उन्होंने परीक्षा पास करके अहमदाबाद में वकालत शुरू की थी। भोलानाथ साराभाई, हरिलाल सीतलवाड़, नरभेराम ठाकुर, देसाईभाई देसाई, कृष्ण मुखराज महता और काँकरोली के गोस्वामीजी महाराज उनके मित्र थे। बाद में वे मुंसिफ हुए और उस पद से पेन्शन लेकर वे बहुत साल तक ठाकुरजी के मन्दिर के 'रिसीवर' रहे। मैंने जब इन्हें देखा था तब वे स्वयं अधिकार का उपभोग करते थे। वे जीवन-भर 'राय साहब' भी रहे।

जहाँ तक मुझे याद है, हरदेवराम मुन्शी को सारा जगत पीछे 'अधुभाई साहब' और सामने 'सरकार' कहने के अतिरिक्त और किसी नाम से सम्बोधन नहीं करता था। कद में वे मुन्शियों की अपेक्षा कुछ लम्बे और सुन्दर थे।

हरदेवराम रणछोड़रामजी के परम भक्त थे और जब 'रिसीवर' थे तब अपने गोमतीवाले घर से संध्या करके नित्य रणछोड़जी की पूजा करने के लिए मंदिर में जाते थे। बुढ़ापे में भी उनका कसरती और सुडौल शरीर दृढ़ रहा था। श्वेत रेशमी वस्त्र की सफाई से मारी हुई पटली कमर से पैरों

तक छटा विकीर्ण करती लटकती थी। उनका रंग अत्यंत गोरा और गुलाबी था। संध्या के गुलाबी आकाश में शशिलेखा के समान जनेऊ लटकता था। मुँह पर बुढ़ापे की झलक थी, पर वह सुन्दर था। गले में एक रुद्राक्ष की माला रहती थी। नाक नुकीली और आँखें सुन्दर और तेजपूर्ण; सफेद और सुहावनी मूँछें और चोटी; और सबको भव्यता देता हुआ मस्तक पर चन्दन का लम्बा त्रिपुण्ड। हाथ में चाँदी का पात्र और आचमनी लेकर, चाँदी के पत्तर से मढ़ी खड़ाऊँ वाले दूध-जैसे पैरों से धीमे-धीमे गर्व और गौरवपूर्ण डग भरते हुए वे घर से बाहर निकलते। आगे एक सिपाही चलता और पीछे नौकर सफेद शाल और पुजापा लेकर आता। गोमती के किनारे नहाकर खड़े हुए और नहाते हुए यात्री उनके पैर छूकर उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते और 'सरकार' तनिक हँसकर, हाथ बढ़ाकर आशीर्वाद देते हुए ठाकुरजी के चरण पखारने चले जाते।

मैंने बहुत से सुन्दर वृद्ध देखे हैं, बहुत-से ज्वलन्त व्यक्तित्व देखे हैं, परंतु आज मेरी आँखों के सामने बचपन में अधुभाई काका का किया हुआ यह दर्शन खड़ा हो जाता है और मुझे लगता है कि संस्कारी ब्राह्मणत्व की ऐसी तेजस्वी, सुन्दर, कलात्मक और ज्वलन्त प्रतिभा देखने का सौभाग्य मुझे फिर कभी नहीं मिला।

अधुभाई काका जीवन के रसिया और कलाकार थे। उनका ठाट ही और था। कोदर रसोइया और मोरार नौकर—लम्बे, चौड़े, हृष्टपुष्ट और मस्त, लेकिन नमकहलाल—उनके जीवन के स्तम्भ थे। सरकार उठते कि तापने के लिए अँगीठी तैयार; गर्म पानी तैयार; दोपट्टे और मंजन, जीभी तथा राख प्रदर्शन की भाँति सजाई हुई हाज़िर। सरकार के नहाने से पहले ही पहनने की धोती पर एक बड़ा शंख घिस-घिसकर लाँग और पटली की तहें बराबर और पतली की जातीं; आज भी धोबी की इस्त्री तो उसके मुक़ाबले ठहर ही नहीं सकती। सरकार नहाकर जब सन्ध्या करते तो कोई

जोर से नहीं बोलता। सरकार का भोजन अलग। दो पतली चपातियाँ घी में तैरती रहतीं—वे तर रोटियाँ सरकार के लिए ही, बचा हुआ घी कोदर पी जाता। भोजन के समय सरकार के लिए तीन पट्टे—सहारा लेने के लिए, बैठने के लिए और थाली रखने के लिए; खास मित्रों अथवा पिताजी जैसों के लिए दो—थाली का नहीं, दूसरों के लिए एक ही—बैठने के लिए। रोज रंगों से साँतिये पूरे जाते और अगरबत्तियाँ जलाई जातीं। सरकार कभी अकेले भोजन न करते; दो-चार मित्र और दो-चार सम्बन्धी साथ अवश्य होते। खाते-खाते बातें की जातीं, गप्पें मारी जातीं और आशु कविता भी होती।

सरकार भोजन करके उठते तो शीघ्र सोने चले जाते। नई चादर बिछा हुआ बिस्तर होता। गरमी हो तो खस की टट्टियाँ डाली जातीं और घण्टे-घण्टे-भर बाद उन पर पानी छिड़का जाता। दोपहरी ढलने पर घर का पंडित या मास्टर योगवशिष्ठ या महाभारत पढ़ता। उसे सरकार उठकर सुनते और जो वहाँ हाजिर होते उन्हें वह रुचि से सुनना पड़ता।

उसके बाद मित्र आते और वार्तालाप चलता। कोई साहब या अंग्रेजी पढ़ा-लिखा आता तो सरकार बातें करते और थोड़ी-थोड़ी देर में अंग्रेजी काव्यों की पंक्तियाँ कह डालते; कोई विद्वान् आता तो संस्कृत साहित्य के चुने हुए सूत्र बोलते; और दक्षिणी होता तो मराठी अभंग सुनाते। सामान्यतः गुजराती और हिन्दी सुभाषितों की वर्षा-सी होती रहती और मिलने आने वाला इस प्रखर विद्वत्ता पर बलिहार हो जाता—परंतु एक-दो बार आया हो तो ही। मुझे पहले तो बड़ा आश्चर्य हुआ लेकिन प्रतिदिन पास बैठने और बढ़ते हुए अध्ययन के कारण इस विद्वत्ता का रहस्य समझ में आ गया। यह विद्वत्ता नहीं थी, कला थी—केवल गिने-चुने सुभाषितों को भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग करने की हथोड़ी थी। उनके वार्तालाप के दो बड़े मौलिक नियम थे। १—बात करनेवाले को केवल

जवाब देने का अधिकार था। २—सरकार जो कुछ कहें उसका विरोध वह नहीं कर सकता था। इन नियमों का उल्लंघन होते ही बात करनेवाले का मिठास, मेहरबानी और सभ्यता का अधिकार तत्क्षण छिन जाता और सरकार की उग्रता उसे दुत्कार देती।

रोज दिया-बत्ती के समय घर के लोग, पड़ोसी और मित्र इकट्ठे होते और सरकार भजन करवाते। भजन 'शान्ताकारं भुजगशयनं' से शुरू होता। बीच में मराठी कीर्तन आता—'सोपान मुक्ताबाई' सदैव आता। 'अच्युतं केशवं' होता और 'रघुपति राघव राजाराम' से भजन पूरा होता। बहुत बार मैंने इस 'सोपान मुक्ताबाई' का विचार किया: सोपान का अर्थ है सीढ़ी; मुक्ताबाई सीढ़ी पर चढ़ी कि उस पर से गिर गई?...लेकिन यह मुक्ताबाई कौन? बड़ा हुआ तब मैंने इसे महाराष्ट्रीय संत के रूप में पहचाना।

घर में हमेशा वेतन [illegible] और तबलची रहता और रोज शाम से देर रात तक महफिल जमती। सरकार स्वयं तम्बूरा बजाते और ऊँचे संस्कारी स्वर में शास्त्रीय संगीत छेड़ते। कहा जाता था कि उन्होंने काँकरोली के किसी गोस्वामी महाराज के साथ संगीत सीखा था—कहाँ और कब इसका पता नहीं।

उनकी बड़ी लड़की की लड़की छोटी उम्र में विधवा हो गई। घर में शोक छा गया। सबको भयंकर आघात लगा। इस दुःखद घटना को पाँच-सात दिन हुए होंगे। सरकार चबूतरे पर बैठे दातुन कर रहे थे। स्टेशन से एक उत्तरी भारत की वेश्या तबलची और सारंगीवाले के साथ टीले पर आई।

'अधुभाई सरकार का घर कहाँ है?'

'क्या है? क्या है? यह क्या?'

सरकार को सलाम करके वेश्या ने हँसकर कहा—'मैं गई थी काँकरोली। महाराजजी ने कहा है कि यहाँ तक आई है तो अधुभाई सरकार का गान

सुनकर जा। इसीलिए मैं शीघ्र आई हूँ।'

'अरे उस बाबाजी को क्या फिक्र है? हमारे तो घर में आग लग गई है,' अधुभाई काका दुखी होकर बोले।

'ठीक है, सरकार!' वेश्या ने नम्रता से कहा। 'सुना तो मैंने भी है। कैसी आफत है! अल्ला-ताला आप जैसे नामी आदमी को क्यों सताता है? लेकिन सरकार! मैं न पैसे के लिए आई हूँ, न महफिल के लिए। सिर्फ एक गाना सुनूँगी और एक सुना दूँगी। बस, कल चली जाऊँगी।'

उत्तरी भारत की वेश्या सरकार का गाना सुनने आती है और दोहती विधवा होती है! इन दो धर्म-संकटों के बीच फँसे सरकार ने क्षण-भर विचार किया और आवाज़ लगाई—'ओद्धव! मुरार!'

'जी, जी सरकार।'

'यह बला कहाँ से आ पहुँची? ले जाओ इसको। धर्मशाला में ठहराओ और खाने-पीने का सामान भेज दो। क्या यह हमारा गाना सुनने का वक्त है? हर, हर, हर।' भगवान् की ओर देखकर, 'क्या वक्त है? प्रभु! रणछोड़रामजी! अकेले तेरा ही भरोसा है।' इतना फिर से कहकर बाद में धीरे-से बोले, 'और ओद्धव! आई है सुनने के लिए तो क्या बिना सुनाये कहीं चल सकता है? देख, रात के दो बजे तबले की अटारी में बैठक जमाना। चारों ओर घांस के ढेर लगा देना, जिससे कि दुष्ट लोग न सुन सकें।'

सबेरे जब वेश्या विदा हुई तब उन्होंने जी-भर कर सुना था और सुनाया था।

लेकिन उसका संगीत मुझे बहुत ही अरुचिकर लगता था। एक बार बुढ़ापे से शिथिल हुए गले से अधुभाई काका गा रहे थे। मैं चबूतरे पर खेल रहा था। उनका अलाप 'आ—आ—आ' के बदले 'आ आ—य—आ आ—य—आ आ—य—' निकल रहा था।

बाहर मैं उसकी नकल कर बैठा—'हा आय—हा आय—हा आय !'

उन्होंने सुन लिया। 'कौन बदमाश है ? मोरार पकड़ तो सही। यह है कौन ?' वे गरजे।

मोरार के आने से पहले ही मैं नौ-दो-ग्यारह हो गया। लेकिन उसके बाद 'सरकार' गाने बैठते कि मैं चुपचाप नकल करने लगता।

इस पाप के परिणाम स्वरूप मेरे संगीत के संस्कार अविकसित रह गए। आज भी मुझे इसका पश्चाताप होता है।

सूर्य चन्द्र के तेज की भाँति उनके ठाट-बाट को सारा जगत् मानता था। वे यदि किसी के यहाँ खाने जाते तो पहले कोदर राँधने जाता, सरकार की पसन्द की रसोई बनाता, सरकार के योग्य तीन पट्टे बिछाता—और तब सरकार खाने जाते। ज्योनार खाने के लिए वे शायद ही जाते परंतु जिसके यहाँ ज्योनार होती, वह उनको बुलाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देता। सरकार आने की स्वीकृति दे देते तो जाति में वाह होती; कोदर और मोरार आते, सब तैयारियाँ करते और घरवालों की पगत के साथ सरकार स्वयं तीन पट्टों पर बैठकर खाते।

किसीके यहां मृत्यु होने पर समवेदना प्रकट करने के लिए यदि सरकार चले जाते तो बड़ी कृपा समझी जाती। श्मशान से आदमी लौटते और खबर मिलती कि सरकार आ रहे हैं तो मोरार हाजिर हो जाता; चबूतरे पर चौकी डाली जाती और सब लोग प्रतीक्षा में खड़े हो जाते। सरकार स्वच्छ धोती पहन-ओढ़कर रोते-रोते आते। मुँह लाल-लाल हो जाता। आँखों से अश्रुधारा वह निकलती। सुन्दर शब्दों में मृत व्यक्ति की प्रशंसा करते। शंकराचार्य के वचनों द्वारा वैराग्य का बोध देते और जैसे नाटक में राजा आकर चला जाता है वैसे ही तत्काल चले जाते।...पीछे से मुँह बनाने वाले मुँह भी बनाते, परन्तु जिसके घर वे आते उसे सान्त्वना मिलती।

एक बार मैं साथ ही गया था और साथ ही वापस आया था। प्रभुभाई

काका की लगन देखकर मैं दंग हो गया। सामने ही उनका अपना घर था। उसमें पैर रखा कि उनका मुँह बदल गया, आँखों के आँसू सूख गए और वे तिरस्कारपूर्वक बोले—'उँह, एक बड़ा लड़का मर गया तो जैसे पृथ्वी रसातल को चली गई!' मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

उन्होंने जीवन को एक नाटक माना था। उसका एक अनाड़ी बाल-नट मैं न्यायासन पर बैठने की धृष्ठता क्यों करूँ? अधुभाई काका के जीवन की भी एक विशेषता थी—प्रत्येक कार्य को ठाट के साथ, लोगों को आश्चर्य-चकित करनेवाले ढंग से करना। यह विशेषता उनके युग की प्रवृत्ति पर आधारित थी। दूसरे युग को उसे असंगत बताने का क्या अधिकार है!

नरसिंहराव भाई 'स्मरण मुकुर' में अधुभाई काका का चित्रण करते हुए लिखते हैं—

"इस युग के पाठक! तू जीवन सागर की तरंगों पर—शान्त लहरों की ही भाँति प्रचण्ड और ऊपर उछलती तरंगों पर—समान रूप से प्रफुल्लतापूर्ण नृत्य करती इस रंगीली, मौजी और पवित्र विरल मूर्ति के साथ अन्याय मत करना। इस संसार में तूने चतुर, गंभीर, माथे पर चक्की का पाट रखकर घूमनेवाले (जिम्मेदारी अनुभव करनेवाले), हास्य क्या है इसके जानने वाले, स्मित का सौन्दर्य भी स्मित-क्रिया के ऊपर उपकार कर रहा है, यह प्रदर्शित करके इस वस्तु का यदा-कदा उपयोग करने वाले बहुत देखे होंगे; तूने रँगीली और गम्भीर मूर्ति के बीच के अनेक रूप भी देखे होंगे, परन्तु ऐसे निर्दोष रँगीले व्यक्ति तो कम ही हैं। इसलिए बड़प्पन तथा अन्य अनेक दृष्टियों से ऐसी मूर्ति का मूल्यांकन करना कठिन कार्य है। मानव-जीवन के विशाल आकाश में घिरी हुई घटाओं के पद-चिह्न अपनी स्थायी छाप छोड़ जाते हैं या नहीं, यह मैं नहीं जानता, परन्तु आनन्द रस का ऐसा पूर्ण आस्वाद करनेवाली और अपनी आनन्द-सरिता द्वारा जीवन-भूमियों को हास्य की हरियाली से भरनेवाली ऐसी आत्मा यदि तुझे आकाश में 'संध्या-

अरेखेव मुहूर्तरामाः' की भाँति दिखाई दे तो यह तेरी भूल है। तू नहीं जानता कि इन सुन्दर लगने वाले रँगों का सौंदर्य क्षण-भर प्रकट होकर लुप्त होता भले ही दिखाई दे, परन्तु इनके गहरे पद-चिह्न अनन्तता के पट पर अमर स्थान पाते हैं।''[1]

: १० :

सरकार के शौक की सीमा नहीं थी। मस्ती, उदारता और आतिथ्य में उन्होंने निरभेराम मुन्शी की कीर्ति को उज्ज्वल रखा था। पर्वों और उत्सवों पर सरकार दावतें देते थे; उनमें मित्र भी सम्मिलित होते थे और अपने तथा मित्रों के बच्चे भी। हम सब बैलगाड़ी में बैठकर गाँव के बाहर किसी बग़ीचे में जाते और लड्डू, खीर तथा पोंक खाते। संगीत और हँसी-मज़ाक में सारा दिन बीत जाता। ऐसे समय उनकी प्रिय मण्डली में थे धीरज राम पुराणी—समस्त गुजरात के धीरज काका और देशभक्त छोटुभाई बालकृष्ण पुराणी के काका। ये पिताजी के भी मित्र थे। 'धीरज काका घर आते कि ऊँघता हुआ घर जाग जाता।

'माकु भाई! ऐ रायसाहब! आऊँ क्या?' दरवाज़े में घुसते हुए वे इतना कहते और पिताजी- खिड़की में से जवाब भी नहीं दे पाते कि वे रसोईघर में पहुँच जाते। 'तापी भाभी! आज मैं खाना खाऊँगा। अरे, लेकिन वह कनु भाई कहां गया?' कहकर मुझे उठाते और हृदय से लगा लेते। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था इसलिए और भी ज़ोर से चिपटा लेते थे। "देख, लड़के, कविता सिखाऊँ—जो पढ़े पुस्तक सो चुपड़ी-चुपड़ी खाय—तेरे बाप की तरह ;और जो न पढ़े पुस्तक सो दुपड़ी हाथ में ले—मेरी तरह। समझा? चुपड़ी-चुपड़ी खाय का अर्थ है जो तापी भाभी बनाती है वह और दुपड़ी का अर्थ है चक्की।"

---

१. स्व० नरसिंहराव दिवेटियाः 'स्मरण मुकुर'—'स्व० हरदेवराम मास्टर' पृ० १७१—१७२।

यह सुनकर पिताजी ऊपर से कहते—"धीरज काका, देखना लड़के को कुछ बुरी बात न सिखाना !" काका की जीभ पर बीभत्स बात थोड़ी-थोड़ी देर में आती।

'अरे माकुभाई ! जीभ को क्या रुकावट होती है ? जो आ जाय सो सही । फिर मैं नहीं सिखाऊँगा तो क्या कोई इसे सिखाये बिना रहेगा ?"

"धीरज काका ! ऐसा क्यों कहते हो ?" मेरी मां कहतीं ।

वे बात बदलते—"चल दोस्त, सिखाऊँ । बोल—

'सबसे बढ़कर अन्न पानी, कहते धीरज काका वाणी ।' "

जब भी वे आते ऐसी कविता की एक-दो पंक्तियां सिखाकर ही जाते । ये ऐसी अनेक कविताएँ लिखते और मित्रों को गा-गाकर सुनाते ।

धीरज काका जैसा मज़ाक करनेवाला मैंने गुजरात में नहीं देखा । यह अफसोस की बात है कि किसीने उनकी मज़ाक की बातों का संग्रह नहीं किया । जो एक-दो बातें मुझे याद हैं उन्हें यहाँ लिखता हूँ ।

× × × ×

मेरे जन्म से पहले ये भड़ौंच के सुपरिन्टेन्डेन्ट के मुंशी थे । एक दिन धीरज काका ने अपनी पुरानी आदत के मुताबिक़ पटली का छोर घुटने से ऊपर कर लिया । साहब ने समझाया—

'देखो, ढीरज काका ! ऐसी ढोटी लेना बेशर्म है । हमारा लोग उसकु नंगा कहता है ।'

'बहुत अच्छा साहब !' धीरज काका ने नीचे झुककर इसे स्वीकार किया और छुट्टी ली ।

दूसरे दिन सवेरे साहब डिस्ट्रिक्ट में जाने को तैयार हुए ।

'घोड़ा लाओ ।'

'जी हुज़ूर,' साईस ने कहा । लेकिन घोड़ा नहीं आया ।

साहब गरम हुए—'रे गधा, सूअर ! घोड़ा लाओ ।'

साईस काँपता हुआ आया—'हुजूर ! धीरज काका उसकी पैमायश कर रहे हैं।'

'पैमायश ? क्या बक्टा है ?' बेचैन साहब दौड़ते हुए तबेले में गये। धीरज काका और दूसरा एक आदमी गज से घोड़े के शरीर को नाप रहे थे।

'ढीरज काका ! यू...क्या करटा है ? पागल हो गया है ?'

'जी नहीं खुदाबन्द ! दिमाग अपनी ठीक जगह पर है।'

'टो क्या करटा है ?'

'आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूँ,' धीरज काका ने कहा।

'आज्ञा ! क्या बकटा है ?'

'जी हाँ, हुजूर ! आपने कहा था कि जिसका घुटना दिखाई दे वह नंगा—बेशर्म; साहब, यह सा......धृष्ठ बेशर्म घोड़ा चारों घुटने नंगे रखकर खड़ा रहता है, इसलिए मैं दर्जी को बुला लाया हूँ। इसके लिए पतलून सिलानी है।'

साहब ने बाद में क्या किया यह कोई नहीं बताता।

× × × ×

दूसरी मजाक की बात भी मैंने सुनी है। धीरज काका के आफिस में एक क्लर्क था; छबील कहूँ तो चलेगा। छबील के काका का कमाऊ लड़का मगन कच्ची उम्र में मर गया था, इसलिए उसे शोक में समवेदना प्रकट करने के लिए अहमदाबाद जाना पड़ा। लेकिन उसे न तो समवेदना प्रकट करना आता था और न सांत्वना देना, इसलिए उसने धीरज काका से सहायता माँगी।

धीरज काका तैयार थे, लेकिन क्या ऐसे ही काम हो सकता था ? 'दो रुपया दो तो साथ भी चलूँ और तुम्हारी ओर से समवेदना भी प्रकट करूं,' उन्होंने कहा।

छबील घबरा रहा था; दो रुपया देकर धीरज काका को अहमदाबाद ले गया।

गाड़ी सवेरे चार बजे अहमदाबाद पहुँची और जब दोनों जहाँ जाना था वहाँ पहुँचे तो चारों ओर के मुहल्ले धीरज काका की बुलन्द आवाज से गूँजने लगे—'ओ मेरे मगन रे—ओ मेरे मगनिया रे!'

लोग आँखें मलते हुए उठे। कौन आया? मगन के बाप और भाई जल्दी-जल्दी धोती ओढ़कर चबूतरे पर आए। घर और पड़ौस की स्त्रियाँ जैसे-तैसे इकट्ठी होकर रोने बैठीं।

छबील और धीरज काका पास आये—'ओ मेरे मगन' रे!'

बाप और भाइयों ने मिलकर कहा—'ओ मेरे मगनिया रे!'

स्त्रियों ने स्वर मिलाया—'अरे भाई, तुझे मरना नहीं चाहिए था—हुँ हुँ हुँ हुँ—'

उसके बाद छबील और धीरज काका बाप और भाइयों के पास बैठे और रोने लगे। शिष्टाचार के अनुसार नया आनेवाला पहले स्वयं चुप होता है और बाप तथा भाइयों को चुप कराता है, अन्दर की स्त्रियाँ रोती रहती हैं। परन्तु धीरज काका को दो रुपये के मूल्य का मगन-विरह का आघात लगा था, इसलिए आँसू और सिसकी के साथ हृदय-विदारक आवाज में वे 'ओ मेरे मगनिया रे' की पुकार लगाते ही रहे। पाँच मिनट के दस मिनट हुए, पन्द्रह मिनट हुए; न धीरज काका चुप होते न बाप तथा भाइयों से चुप रहा जाता और न स्त्रियों से ही चुप रहा जाता। धीरज काका तो सर पकड़ कर हृदय-विदारक रुदन करते ही जाते—'ओ मेरे आ—आ मगनिया आ—आ रे ए ए—'

अन्त में बाप और भाई रो-रोकर थक गए और छबील से धीरे-से कहा—'अरे उनसे कहो कि चुप रहें।'

छबील ने रोते हुए काका के कान में कहा—'अब चुप रहो न।'

धीरज काका को छाती फाड़कर रोने का जोश आया—'ओ मेरे मगनिया रे—'

बाप ने कहा; उसके बाद छबील ने कहा। अन्त में धीरज काका ने गगनभेदी—'ओ मेरे मगन रे' और बीच में रोने के ही स्वर में छबील से 'रोने के पैसे लिए हैं, चुप होने के नहीं,' इतना धीमे से कहा और फिर जोर से रोना शुरू किया—'ओ मेरे मगन रे!'

अन्त में विवश होकर छबील ने सौदा किया; चुपचाप कपड़े में लपेटकर धीरज काका को कुछ दिया—चुप रहने की फीस! तब धीरज काका का शोक कम हुआ, आँसू सूखे, 'मगनिया' की करुण पुकारें बन्द हुई। लोग अपने-अपने घर गये।

× × × ×

तीन मित्र डाकोर में इकट्ठे हुए—सरकार, कृष्ण मुखराम काका और धीरज काका। हम भी थे।

'बिना दोपहर को सोए मेरा काम नहीं चल सकता,' अधुभाई काका ने कहा।

'अच्छा भाई! हम क्या मना कर सकते हैं? सोओ, सोओ, सोओ। अधुभाई सरकार नहीं सोएंगे तो दूसरा कौन सोयेगा?' धीरज काका ने जवाब दिया।

अधुभाई काका सो गए—निर्द्वन्द्व। आधा घण्टा हुआ होगा कि छप्पर की खपरैल खिसकी और पानी की धारा मच्छरदानी में होकर सोते हुए सरकार का अभिषेक करने लगी।

वे जागे—'कोदर! मोरार! छप्पर पर कौन—है? पकड़ो, पकड़ो!' और पानी से तरबतर सरकार छलांग मारकर बाहर दौड़े।

मैंने छप्पर पर रखी नसेनी से दो प्रतिष्ठित वृद्धों को कछोटा मारकर, हाथ में खाली घड़े लेकर, नीचे उतरते देखा। धीरज काका कह रहे थे—

प्रस्तुत करती है। घर के पढ़ने वाले लड़कों की ओर तिरस्कार से हाथ लम्बा करके उन्होंने कहा था—

'हम क्या खाक परीक्षा देते ? हमने तो एक बहली ली। उसमें मुनीम बैठा और हम घोड़े पर सवार हुए। भाई (नरभेराम मुंशी) ने गाँव-गाँव में आदमी भेजकर मेरे लिए तैयारी कराई थी। इसलिए हम लोगों के लिए सर्वत्र ठहरने का प्रबन्ध हो गया था; जहाँ पहुँचे वहीं लड्डू-जलेबी तैयार ! बीस दिन में धीरे-धीरे हम बम्बई पहुँचे और धीरजलाल भाई के यहाँ ठहरे। नहीं समझे ? धीरजलाल मथुरादास हाईकोर्ट के सरकारी वकील भाई के बड़े मित्र थे। बाद में धीरजलाल भाई ने सबकी कुशल पूछी, मेरी मेहमाननवाजी की और कहा—"देख, लड़के फरसु, मैं कल तुझे चीफ जस्टिस के पास ले जाऊँगा। जवाब तो तपाक से देगा न ?"

'मैंने कहा, "अरे काका अवश्य जवाब दूंगा ! जवाब देने में भी कुछ लगता है। लेकिन काका, कानून ठीक तरह से नहीं पढ़ा।"

' "झख मारता है," काका ने कहा।

'दूसरे दिन धीरजलाल भाई पालकी में और मैं घोड़े पर बैठ हाईकोर्ट पहुंचे। कुछ देर में उन्होंने मुझे बुलाया। बड़ी कुरसी पर चोगा पहने हुए चीफ जस्टिस बैठे थे। हमने जाकर सलाम बजाया। धीरजलाल भाई ने अंग्रेजी में कुछ बातें कीं। बाद में चीफ जस्टिस ने अंग्रेजी में कहा, "Ask the boy, does he know the law of mortgage ?"

'धीरजलाल मेरी ओर मुड़े और गुजराती में पूछा, 'फरसराम ! तेरा विवाह हो गया या नहीं ?'

' "जी हां," मैंने कहा।

' "धीरजलाल भाई ने अंग्रेजी में उत्तर दिया—"yes."

' "माननीय ने दूसरा प्रश्न पूछा, "What is equity of redemption ?"

'धीरजलाल भाई मेरी ओर मुड़े, "तेरे विवाह के समय कितने आदमियों को निमंत्रण दिया गया था और उसमें क्या-क्या चीज खिलाई गई थीं ?"

'मैंने तुरन्त उत्तर दिया—"तीन साहब, एक कंसार[1] की, दूसरी बरफी चूरमा की और तीसरी मोतीचूर के लड्डू और मठा की । हर एक के साथ पाँच साग, दो रायते और अरबी के पत्तों की पकौड़ियाँ भी थीं ।"

' "बहुत हो गया," धीरजलाल भाई ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा— "My lord, the answer is correct. It must be correct. He comes from a lawyers' family; father is a lawyer; grandfather was a lawyer. They suck the law with their mother's milk."

'न्यायाधीश हँसे । पास ही सनद पड़ी थी, उस पर बिल्ली का चित्र बनाया । हमने कोर्निस बजाई ।

'धीरजलाल भाई ने कंसार खिलाई । हम घोड़े पर सवार हुए और सनद लेकर लड्डू-जलेबी खाते वापस आये ।

'किसके बाप की ताकत है कि सनद को छीन ले ? माणका भाई इस लड़के को पढ़ा-पढ़ाकर मार डालोगे तब भी हमने जो कुछ किया है वह यह नहीं कर सकता ।'

मैं यह बात सुनता रहा । माँ के दूध के साथ कानून पीने के दिन चले गए, इसके लिए उस समय मैंने आह भरी थी या नहीं, यह मुझे याद नहीं ।

उन्होंने थोड़े दिन वकालत की और सूझ-बूझ तथा होशियारी के लिए नाम भी कमाया । पीछे बहरे हो जाने के कारण उन्होंने यह काम छोड़

---

१. कंसार—स्वादिष्ट दलिया, जिसको पहले गुड़ के पानी में पकाते हैं फिर उसमें चीनी और मेवा डालकर खाते हैं । गुजरात में प्रत्येक मंगल अवसर पर पहले इसकी दावत होती है ।

दिया। उन्होंने अपने बाप के जीवनकाल में ही जाति और कुटुम्ब के व्यवहार का भार ले लिया था। निरभेराम के मरने पर दोनों पर एकछत्र राज्य करने लगे थे। जब से मैंने उन्हें देखा, वे ही कुटुम्ब के मालिक थे। उनके पास क्या था, इसका किसीको पता नहीं था। चौंतीस वर्ष तक अपने आप काम करते हुए उन्होंने किसीको चूँ तक नहीं करने दी थी।

सवेरे दातुन करके वे अपने चबूतरे पर ही मुखियागीरी करते थे। कमर रह जाने के कारण बिना काँछ लगाये धोती लपेटकर वे नये मंदिर के चबूतरे पर एक कुरसी पर बैठते थे। वे आम सड़क पर जानेवाले लोगों के नमस्कार लेते थे, उनकी बातें सुनते थे और उनको खिलाते हुए दो घण्टे निकाल देते थे।

'फरसु मुंशी' से सभी घबराते थे। ये बड़े पुराने बुजुर्ग थे। ये हर एक को पहचानते थे और इस बात को ये अच्छी तरह जानते थे कि किस समय किसे छेड़ना है, किसे हँसाना है, किसे रुलाना। चाहे जैसा संकट का समय हो, इनकी दृष्टि अपनी सचेष्टता नहीं खोती थी।

इनकी वाक्‌पटुता का अद्‌भुत प्रभाव मेरे मन पर रह गया है। ये लड़कों को कहानियाँ और उपाख्यान सुनाते। स्त्रियों के साथ उनके जैसी ही बातें करते। जैसा आदमी उसके साथ वैसी ही बातें; चुटकुले कहते, गाली देते, डराते, हँसाते और ज़रूरत पड़ती तो रुलाते। जब प्रेम से बात करते तो सब पीछे रह जाते थे। जब ये अपने सिंह-जैसे मुँह और हुंकार का उपयोग करते तो सारी जाति थर-थर काँपती।

जिस झूले पर बैठकर ये लगभग सारा दिन गुज़ारते थे उसके सामने की दीवार पर इन्होंने यह सूत्र लिखा था—'रोटी खाओ शक्कर से और दुनिया जीतो मक्कर से।' इनकी नकल बनाने वाले मज़ाक में इनके पीछे से कुछ फेरफार करके 'दुनिया जीतो डक्कर से' कहते। इन्हें कहावतें बड़ी प्रिय थीं। ये हमेशा कहते—'लड़के, मर्द बनना है तो लड़के का पालना मत हिलाना,

और हाथ में दोहनी लेकर छाछ लेने न जाना ! इस सलाह का तीसरा चरण कहने योग्य नहीं ।

जवानी में इन्होंने खूब अनुभव प्राप्त किये थे । जब हमारी जायदाद का बटवारा हुआ तब तबेला हमारे हिस्से में आया। पिताजी ने उसकी मरम्मत कराई । एक बार मज़दूर टोकरों में खोदी हुई मिट्टी ले जा रहे थे। बड़े काका अपने चबूतरे पर बैठे थे। मेरी माँ और मैं अपने चबूतरे पर खड़े थे । मज़-दूरों के टोकरों में जितनी मिट्टी थी उतनी ही टूटी हुई बोतलें और काँच थे। 'लड़के, वे काँच देखे ?' बड़े काका ने कहा। 'यह सब मेरी जवानी का पश्चाताप। मैं पहले इस 'पश्चाताप' को नहीं समझा। उस समय मुझे यह भान नहीं था कि जब सुधारों की पौ फटी तब बड़े काका की जवानी थी और जब मेरे छोटे-से मस्तिष्क में इस पश्चाताप का अर्थ आया तब मेरे हृदय में बड़े काका के लिए क्रोध की ज्वाला प्रज्वलित होने लगी ।

जब से मैंने होश सँभाला तब से बड़े काका को मैंने अपने चार लड़कों और दो लड़कियों के परिवार के साथ टीले पर बड़ी हवेली के सामने के एक सुविधापूर्ण घर में रहते हुए देखा था ।

बिजकोर काकी बिलकुल पुराने ज़माने की थीं। नये ज़माने के प्रति उनके क्रोध की सीमा न थी । 'हमारे ज़माने में तो सोने के कड़े मेरे सासरे या पीहर में पहने जाते थे, 'लेकिन अब तो राँ...ड़ें...घर-घर पहनती हैं !'

बहुत वर्षों के बाद जब मैंने स्त्री-शिक्षा का झगड़ा उठाया उस समय उनकी कही हुई बात मुझे याद आ रही है—'तुम सबको हुआ क्या है ? जितनी पढ़ाओगे उतनी ही रांड होंगी ।'

फिर एक और प्रसंग पर उन्होंने कहा था—'हम नहीं पढ़े हैं तो हमें अधिक लकड़ियों की ज़रूरत पड़ेगी क्या ? हमें भी चौदह मन चाहिएं, और पढ़ी हुई लड़कियों को भी चौदह मन चाहिएं ।' कोई लड़की सासरे जाने के लिए अधीर होती तो वे हमेशा कहतीं—'चुप ! चुप ! क्या तू ही अकेली

और हाथ में दोहनी लेकर छाछ लेने न जाना ! इस सलाह का तीसरा चरण कहने योग्य नहीं ।

जवानी में इन्होंने खूब अनुभव प्राप्त किये थे । जब हमारी जायदाद का बटवारा हुआ तब तबेला हमारे हिस्से में आया। पिताजी ने उसकी मरम्मत कराई । एक बार मज़दूर टोकरों में खोदी हुई मिट्टी ले जा रहे थे। बड़े काका अपने चबूतरे पर बैठे थे। मेरी माँ और मैं अपने चबूतरे पर खड़े थे । मज़-दूरों के टोकरों में जितनी मिट्टी थी उतनी ही टूटी हुई बोतलें और काँच थे । 'लड़के, वे काँच देखे ?' बड़े काका ने कहा। 'यह सब मेरी जवानी का पश्चाताप। मैं पहले इस 'पश्चाताप' को नहीं समझा। उस समय मुझे यह भान नहीं था कि जब सुधारों की पौ फटी तब बड़े काका की जवानी थी और जब मेरे छोटे-से मस्तिष्क में इस पश्चाताप का अर्थ आया तब मेरे हृदय में बड़े काका के लिए क्रोध की ज्वाला प्रज्वलित होने लगी ।

जब से मैंने होश सँभाला तब से बड़े काका को मैंने अपने चार लड़कों और दो लड़कियों के परिवार के साथ टीले पर बड़ी हवेली के सामने के एक सुविधापूर्ण घर में रहते हुए देखा था ।

बिजकोर काकी बिलकुल पुराने ज़माने की थीं । नये ज़माने के प्रति उनके क्रोध की सीमा न थी । 'हमारे ज़माने में तो सोने के कड़े मेरे सासरे या पीहर में पहने जाते थे, 'लेकिन अब तो राँ...ड़ें...घर-घर पहनती हैं !'

बहुत वर्षों के बाद जब मैंने स्त्री-शिक्षा का झगड़ा उठाया उस समय उनकी कही हुई बात मुझे याद आ रही है—'तुम सबको हुआ क्या है ? जितनी पढ़ाओगे उतनी ही रांड होंगी ।'

फिर एक और प्रसंग पर उन्होंने कहा था—'हम नहीं पढ़े हैं तो हमें अधिक लकड़ियों की ज़रूरत पड़ेगी क्या ? हमें भी चौदह मन चाहिएं, और पढ़ी हुई लड़कियों को भी चौदह मन चाहिएं ।' कोई लड़की सासरे जाने के लिए अधीर होती तो वे हमेशा कहतीं—'चुप ! चुप ! क्या तू ही अकेली

ससुराल जा रही है ? हम क्या कहीं और गये थे ?'

अस्सी वर्ष पहले की सुशील सुन्दरी के इन वाक्यों से इस बात का अच्छी तरह पता लग जाता है कि हमारे जमाने में तब से क्या अन्तर हो गया है।

: १२ :

दूसरे, रामभाई काका (१८४८–१६०३) कुछ दिन स्टेशनमास्टरी करके, वकील होकर, वकालत करने लगे थे। ये और इनकी स्त्री दोनों बड़े महारथी थे। दोनों बिना किसी कारण के किसीके भी साथ लड़ सकते और सबसे अलग रहते थे। ये निस्सन्तान थे और हवेली के पीछे तीसरी मंजिल पर इनका निवास था। दोपहर के ग्यारह बजे के करीब दोनों उठते। रामभाई काका मुँह धोकर कोर्ट में जाते और काकी पीहर जातीं। शाम को दोनों घर आते, तीसरी मंजिल पर चढ़ जाते और थोड़ी देर सोते। रात के दस बजे दोनों उठते—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी।

दस बजे दोनों दातुन करते। उसके बाद काका स्नान-सन्ध्या करते और काकी खाना बनाने बैठतीं। आधी रात के समय भाँग पी जाती। दो बजे दोनों खाते। बहुत बार जब ये सोने जाते तो सवेरा हो जाता—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

भड़ौंच के नवाबी खानदान के एक रिश्तेदार फैज़ामियाँ फ़ौजदार इनके अच्छे मित्र थे। वे इनके यहाँ खाते और ये उनके यहाँ सब समय बिताते। फैज़ामियाँ काका बड़े दयालु थे और मुझे प्रेम से बुलाते थे। कभी-कभी जब फैज़ामियाँ रामभाई काका को खाने के लिए बुलाते तब अपने बाड़े में जगह को लिपा-पुताकर साफ कराते, गाँव में से ब्राह्मण बुलाकर वहां खाना बनवाते और अपने ब्राह्मण मित्र को खिलाते।

पिताजी तीसरे भाई थे। चौथे भाई चन्दा काका बहुत छोटे थे। लेकिन भाइयों में भाई से भी सवाई बूआ रुखी थी। रुखी बाल्यावस्था में विधवा हुई थी, इसलिए सास-ससुर का कुछ सहा नहीं था। मां-बाप ने लाड़ लड़ाया था और भाइयों ने सदा मान दिया था। बाल-वैधव्य मनुष्य के हृदय के झरने को सुखा डालता है। वह या तो विधवा को कुचल देता है या हिंसक पशु बना देता है; उसका कोई नहीं, वह किसी की नहीं। जिस प्रकार नगर की सीमा पर कोई भयंकर वनराज अपनी एकान्त गुफ़ा में रहता है, उसी प्रकार रुखी हवेली के पिछले कोठे में रहती थी।

उसके जैसा स्वादिष्ट भोजन बनाना किसीको नहीं आता था। वे रोज नदी में नहातीं और कपड़े धोतीं। दिन में एक बार स्वयं भोजन बनातीं और दूसरी बार किसीके यहां से कोई अवश्य आ धमकता। कोई मर जाता तो उनके जैसी रोने की किसी की शक्ति नहीं थी। उनके जैसा हृदय-विदारक मर्सिया कोई गा नहीं सकता था। पास के घर में बूआ रोने गई हुई होतीं तो उनके राग, भाव और करुणा की कलात्मक अपूर्वता के प्रताप से मुझे अनेक बार रोना आ जाता।

विविक्तसेवी रुखीबा 'असक्त बुद्धिः सर्वत्र' थीं। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी वैरियों की भयंकर जीभ से कभी तनिक भी कलंकित नहीं हुई थीं। ये किसी की अनीति की ओर उपेक्षा भाव नहीं दिखा सकती थीं। इन्होंने छोटे भाई चन्दाकाका को बच्चे की तरह पाला था और केवल उन्हींकी ओर इनकी ऐसी संरक्षण वृत्ति थी जैसी कि बाघिन अपने बच्चे की ओर रखती है। उनको छोड़कर ये सबको धिक्कारतीं—विशुद्ध और निष्कलंक द्वेष से। नरभेराम मुन्शी की उग्रता और बड़प्पन इनमें आये थे। इनकी बहादुरी की थाह कोई नहीं ले सकता था। मैंने इन्हें कभी किसीसे डरते हुए नहीं देखा। बुद्धि और झगड़े में ये बड़े-बड़े महारथियों का भी मुकाबला कर सकती थीं। इनकी वाणी में वज्र की विनाशकता और गर्जना दोनों थीं। ये चाहे जिसे फुसला

मिलती और खाती वह रूपबाई के यहाँ। वह जब-कभी रूठ जाती तो रूपबाई चम्मच से तापी को दूध पिलाती। पहले के लोग भावनाशील थे, इसलिए रूपबाई के सभी सम्बन्धी तापी को खिलाने ले जाते।

इस विभाग में आगे दिये हुए उद्धरण और अभी-अभी पीछे आने वाले उद्धरण मेरी माँ तापी बाई द्वारा सन् १८६७ की लिखी हुई आत्मकथा से लिये गए हैं। यद्यपि यह कृति अशुद्ध भाषा में लिखी हुई है तथापि सामाजिक दृष्टि से देखने से यह पुराने ज़माने का हूबहू चित्र देती है। संयुक्ताक्षरों को मैंने ठीक किया है और विराम चिह्न लगा दिये हैं।

इस आत्मकथा में लिखा है—

"तापी दो वर्ष की हुई, धाय को छुट्टी दी गई और वह खाना सीखी। कुछ चलना आया और कुछ बोलना भी। वह तुतला कर बोलती और रूपबाई लड़की की याद करके रो उठती। उस समय तापी पूछती। 'माँ, क्यों रोती है?' बुढ़िया जवाब देती, 'तू अभागी पैदा हुई है। मेरी बेटी को खा गई।' लेकिन तापी को इन शब्दों का ज्ञान न था।"

तापी को धीरे-धीरे समझ आने लगी और रूपबाई का स्नेह उसके जीवन को स्वर्ण-तन्तु से लपेटने लगा। धेवती रूपबाई बुढ़िया का चित्र देना नहीं भूली।

"बुढ़िया का जीवन ग़रीबी में बीता, इसलिए बेचारी घर में ज्वार रखती और उसकी रोटियाँ खाती, परन्तु कर्ज़ नहीं करती; रोटियाँ तेल से चुपड़ती और कढ़ी से खाती। तापी के लिए दूध बँधा हुआ था, इसलिए उसे उसमें खिलाती। लड़का भी हाथ से कुर्ता सी लेता। बुढ़िया कसीदा काढ़ती और सीती। कच्चे धानों को हाथ से कूटती और पीसती। सारे घर में एक ही दीपक जलाती। अचार के बदले फसल में सस्ती हरी मिरचें लेकर सुखा लेती और नमक के साथ खाती। घर में बक्स नहीं था, इसलिए रेशमी कपड़े कुठीले में रखे जाते थे, कोई त्योहार आता तो शाक लाती और

गेहूं का उपयोग करती ।……उसके द्वार पर न कोई उघाई करने वाला आता न वह किसीको ब्याज देती। मोटा झोटा पहनने पर भी फटा न पहनती।

"तापी अब मुहल्ले में घूमने जाने लगी, परन्तु कमज़ोर बहुत थी। कोई हाथ पकड़े कि उतर जाय। सब खिझाते—'हाथ पकड़ूं क्या ?' यह सुनते ही वह भाग जाती। सारे मुहल्ले को यह देखकर आनन्द आता।"

जब तापी छ: वर्ष की हुई तो उसके विवाह का प्रश्न रूपबाई को परेशान करने लगा। दो बूढ़ियों ने इस काम का बोझ उठा लिया और नरभेराम मुंशी के तीसरे पुत्र माणिकलाल को पसन्द किया। लेकिन यह काम कठिन था। नरभेराम मुंशी टीले के गद्दीधारी थे। तापी के बड़े काका (मूलचन्द) भाई मुशी भी बड़ौदे में अच्छा कमाते थे। दोनों के बीच अनबन थी।

बूढ़ियों ने नरभेराम मुंशी से बातें कीं—'लड़की सुन्दर है, अच्छे कुल की है।' नरभेराम ने कहा—'तुम्हारा मूलचन्द उसे क्या देगा ? टीले पर आता है तो मेरी ओर देखता भी नहीं, इतना मिजाज़ रखता है।'

मूलचन्द भाई जब बड़ौदे से आए तो बुढ़िया उनके पास पहुंची। वे भी बड़े आदमी थे। वे नरभेराम मुंशी से मिले। दोनों ज्योतिष जानते थे। जन्मपत्रियाँ देखीं तो वे मिल गईं। मूलचन्द भाई ने धीरे से अपनी हवेली मुंशियों के ढंग की बनाने की इच्छा प्रकट की। विवाह की बात से घरबार की बात आई और पुराना वैर भुला दिया गया।

नरभेराम ने अपनी स्त्री से बातें कीं।

'मुझे तापी नहीं लेनी,' दयाकुंवर बोली—'इस बिना माँ की लड़की की माँग-चोटी मैं कहाँ करती फिरूंगी ?'

'उँह, क्या यही बात है ?' नरभेराम मुंशी ने कहा—'तू वह मत करना, लेकिन विवाह वहीं होगा।'

सन् १८६० ई० में जब नौ वर्ष के माणिकलाल का जनेऊ हुआ तब वे घोड़ी पर पीछे बिठाकर छ: वर्ष की तापी को भी ले आये।

मिलती और खाती वह रूपबाई के यहाँ। वह जब-कभी रूठ जाती तो रूपबाई चम्मच से तापी को दूध पिलाती। पहले के लोग भावनाशील थे, इसलिए रूपबाई के सभी सम्बन्धी तापी को खिलाने ले जाते।

इस विभाग में आगे दिये हुए उद्धरण और अभी-अभी पीछे आने वाले उद्धरण मेरी माँ तापी बाई द्वारा सन् १८६७ की लिखी हुई आत्मकथा से लिये गए हैं। यद्यपि यह कृति अशुद्ध भाषा में लिखी हुई है तथापि सामाजिक दृष्टि से देखने से यह पुराने ज़माने का हूबहू चित्र देती है। संयुक्ताक्षरों को मैंने ठीक किया है और विराम चिह्न लगा दिये हैं।

इस आत्मकथा में लिखा है—

"तापी दो वर्ष की हुई, धाय को छुट्टी दी गई और वह खाना सीखी। कुछ चलना आया और कुछ बोलना भी। वह तुतला कर बोलती और रूपबाई लड़की की याद करके रो उठती। उस समय तापी पूछती। 'माँ, क्यों रोती है?' बुढ़िया जवाब देती, 'तू अभागी पैदा हुई है। मेरी बेटी को खा गई।' लेकिन तापी को इन शब्दों का ज्ञान न था।"

तापी को धीरे-धीरे समझ आने लगी और रूपबाई का स्नेह उसके जीवन को स्वर्ण-तन्तु से लपेटने लगा। धेवती रूपबाई बुढ़िया का चित्र देना नहीं भूली।

"बुढ़िया का जीवन ग़रीबी में बीता, इसलिए बेचारी घर में ज्वार रखती और उसकी रोटियाँ खाती, परन्तु कर्ज़ नहीं करती; रोटियाँ तेल से चुपड़ती और कढ़ी से खाती। तापी के लिए दूध बँधा हुआ था, इसलिए उसे उसमें खिलाती। लड़का भी हाथ से कुर्ता सी लेता। बुढ़िया कसीदा काढ़ती और सीती। कच्चे धानों को हाथ से कूटती और पीसती। सारे घर में एक ही दीपक जलाती। अचार के बदले फसल में सस्ती हरी मिरचें लेकर सुखा लेती और नमक के साथ खाती। घर में बक्स नहीं था, इसलिए रेशमी कपड़े कुठीले में रखे जाते थे, कोई त्योहार आता तो शाक लाती और

गेहूं का उपयोग करती ।······उसके द्वार पर न कोई उघाई करने वाला आता न वह किसीको ब्याज देती । मोटा झोटा पहनने पर भी फटा न पहनती ।

"तापी अब मुहल्ले में घूमने जाने लगी, परन्तु कमज़ोर बहुत थी । कोई हाथ पकड़े कि उतर जाय । सब खिझाते—'हाथ पकड़ूं क्या ?' यह सुनते ही वह भाग जाती । सारे मुहल्ले को यह देखकर आनन्द आता ।"

जब तापी छः वर्ष की हुई तो उसके विवाह का प्रश्न रूपबाई को परेशान करने लगा । दो बूढ़ियों ने इस काम का बोझ उठा लिया और नरभेराम मुंशी के तीसरे पुत्र माणिकलाल को पसन्द किया । लेकिन यह काम कठिन था । नरभेराम मुंशी टीले के गद्दीधारी थे । तापी के बड़े काका (मूलचन्द) भाई मुंशी भी बड़ौदे में अच्छा कमाते थे । दोनों के बीच अनबन थी ।

बूढ़ियों ने नरभेराम मुंशी से बातें कीं—'लड़की सुन्दर है, अच्छे कुल की है।' नरभेराम ने कहा—'तुम्हारा मूलचन्द उसे क्या देगा ? टीले पर आता है तो मेरी ओर देखता भी नहीं, इतना मिजाज़ रखता है ।'

मूलचन्द भाई जब बड़ौदे से आए तो बुढ़िया उनके पास पहुंची । वे भी बड़े आदमी थे । वे नरभेराम मुंशी से मिले । दोनों ज्योतिष जानते थे। जन्मपत्रियाँ देखीं तो वे मिल गईं। मूलचन्द भाई ने धीरे से अपनी हवेली मुंशियों के ढंग की बनाने की इच्छा प्रकट की । विवाह की बात से घरबार की बात आई और पुराना वैर भुला दिया गया ।

नरभेराम ने अपनी स्त्री से बातें कीं ।

'मुझे तापी नहीं लेनी,' दयाकुंवर बोली—'इस बिना माँ की लड़की की माँग-चोटी मैं कहाँ करती फिरूंगी ?'

'उँह, क्या यही बात है ?' नरभेराम मुंशी ने कहा—'तू वह मत करना, लेकिन विवाह वहीं होगा ।'

सन् १८६० ई० में जब नौ वर्ष के माणिकलाल का जनेऊ हुआ तब वे घोड़ी पर पीछे बिठाकर छः वर्ष की तापी को भी ले आये ।

विदा के समय बड़ी गड़बड़ हुई। तापी को एक रिश्तेदार की लड़की के झंगे-टोपी पहनने थे। ऐन वक्त पर उसने देने से इन्कार कर दिया। मूलचन्द भाई को बुरा लगा। 'क्या यही पैसे वाला है? बस, बजाज़ बुलाओ, दर्जी बुलाओ।' तत्काल किनखाब खरीदा गया और झंगे-टोपी सिलाये गए।

विदा में देर होने लगी। बहू के लिए जो घोड़ी मंगाई गई थी वह दूसरी बारात में चली गई। नरभेराम ने पालकी मंगाई। तापी के छोटे काका बालू भाई गुस्सा हो गए। 'जा, नरभेराम से जाकर कह कि घोड़ी लावे और लड़की को ले जाय। एसा न कर सके तो अपने लड़के और बारात को वापस ले जाय। मैं अपनी लड़की को पालकी में नहीं बिठाऊंगा।'

घोड़ी की तलाश हुई। पिताजी ने 'A kingdom for a horse' के बदले 'a wife for a horse' का उच्चारण किया था या नहीं, यह खबर नहीं, परन्तु अन्त में घोड़ी मिल गई। नये झंगा-टोपी पहनाकर तापी को उस पर बिठा दिया गया। इस पर माणिकलाल मुंशी बहू ले आए।

कुछ महीनों बाद रूपबाई मर गईं और बिना माँ की तापी बूआ के घर पलने लगी।

सन् १८६३ में माणिकलाल और तापी का विवाह हुआ। दोनों मुंशी कुलों ने उत्सव मनाया। ज्योनारें हुईं; आतिशबाजी छूटीं; पहरामनियाँ हुईं और नाचरंग का समा बँधा।

भड़ौंच में लड़कियों की सबसे पहली पाठशाला लड़कों की पाठशाला के एक हिस्से में खोली गई थी। लड़कियों को स्लेट-पेंसिल भी पाठशाला से मिलती थीं। वहाँ तापी तीसरे दर्जे तक पढ़ी। विवाह के बाद जब वह दाहोद अपने बाप के घर गई तब भी उसने पढ़ना जारी रखा। बाप कचहरी से आकर रात को पढ़ाते और समझाते। उसके बाद तापी अपनी सौतेली माँ को पढ़ाती।

अकेली तापी मूलचन्द भाई की लड़की रुक्मणी के साथ भड़ौंच रहने

लगी। एक तो बाप से अधिक स्नेह नहीं, दूसरे वह सौतेली माँ के साथ परदेश में रहते थे। दयालु मूलचन्द काका—उन्हें तापी 'बापा' कहती थी—नवसारी में नौकरी करते थे। केवल बूआ ही उसकी देखभाल करती थी।

जब तापी ग्यारह वर्ष की हुई तो बूआ मर गई। 'अब तापी बाई के लिए लाड़ सपना हो गया और उसे यह समझने का अवसर मिला कि कौन उसका है।' आत्मकथा में लिखा है कि मातृहीना और पिता के संरक्षण से रहित निराधार तापी मूलचन्द भाई की लड़की रुक्मणी के क्रूर आश्रय में रही। जब सब लोग अम्बाजी की यात्रा को गये तब वहाँ भी तापी का स्थान एक आश्रित का ही था। भड़ौंच में किसीकी मृत्यु होती या कोई संकट आता तो बड़ों की मदद के लिए सबसे पहले उसकी ज़रूरत पड़ती। काकी की लड़कियों के प्रसव-प्रसंग में तो उसे उपस्थित रहना अनिवार्य ही था।

"रुखी की दो लड़कियाँ छोटी थीं। उनको नहलाना, खिलाना, सुलाना, उनके कपड़े धोना, उनको खाने के लिए ले जाना, ये सब काम वही करती थी। रुखी को बाप के घर का काम मिला था; तापी उसकी नौकरी करती थी।

"आसाढ़ सुदी एकादशी बड़ी कहलाती है। उस दिन तापी ने उपवास किया और रात को जागरण किया। इससे तापी को बुखार आ गया। वह बुखार उतरा नहीं। कारण, दवा कौन करता? बुखार बना रहा और श्रावण मास आया। रोज़ ही काका की लड़कियाँ बाहर खाने जातीं थीं। अष्टमी को सब जाने को तैयार हुए। तापी को उस समय तेज़ बुखार था इसलिए वह कहाँ जाती? सब ने सोचा कि द्वार खुला छोड़ा जायगा तो कोई घुस बैठेगा, इसलिए ताला बन्द कर दिया जाय और ताली पड़ौसी को दे दी जाय।

"इस निश्चय के अनुसार ताली पड़ोस की बुढ़िया को दी और सब

: १४ :

सन् १८६७ की बात है। बारह वर्ष की तापी ससुराल आई। मां की दी हुई धोती और चोली, कुछ थोड़ी-सी चीजें और मूलचन्द भाई द्वारा दिया हुआ ट्रंक—ये उसकी सारी दौलत थी।

माणिकलाल मुन्शी पन्द्रह वर्ष के थे और अँग्रेजी पढ़ते थे। भड़ौंच में मैट्रिक का क्लास न था, इसलिए अहमदाबाद जाकर पढ़ने का निश्चय किया।

"जेठ सुदी पूनम को जिस गाड़ी में माणिकलाल—तापी का स्वामी—जा रहा था उसी गाड़ी में तापी, उसकी सौतेली मां और उसके दो लड़के गोधरा जा रहे थे। इसलिए अनायास ही तापी तथा माणिकलाल दोनों का दृष्टि-मिलन हो गया। इससे दोनों को संतोष हुआ। इसका प्रमाण यह है कि दोनों एक-दूसरे को रह-रहकर देखते थे। बड़ौदे के स्टेशन पर तापी और उसकी सौतेली माँ उतर पड़ीं और ट्रेन के चले जाने तक वे एक-दूसरे को देखते रहे।"

यह तो संयम और मर्यादा का युग था!

माणिकलाल को अहमदाबाद का पानी अनुकूल नहीं पड़ा, इसलिए बीमार होकर घर आये। इतने में नरभेराम मुन्शी बीमार पड़े। माणिकलाल ने पढ़ना छोड़ दिया था, इसलिए बीमार बाप की सेवा में जुट गए। तापी भी उस समय की प्रथानुसार थोड़े दिन ससुराल और थोड़े दिन पीहर में रहती थीं।

दयामा गिर पड़ीं और बीमार हो गईं तो ससुराल का कार्य-भार उग्र रुखीबा के हाथ में आया। पीहर में तो अभी मूलचन्द भाई की लड़की रुखी की चलती ही थी।

तापी को दो रुक्मणियों के बीच तीखे वचन, क्रोध, अपमान और जी-तोड़ परिश्रम का कटु अनुभव होने लगा। बहुत दिनों तक गुजरात में ऐसा नियम था कि बहू रोज़ रात को पीहर में खाती थी, ससुराल में नहीं। तापी

को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। रात को ससुराल में खावे तो बाप की इज़्ज़त जाय। पीहर खाने जाय तो वहां भी रुखी को खाना बनाकर खिलाना पड़े, इसलिए वह कटु और तीखे वचनों से तापी को जलावे। अन्त में तापी इस अत्याचार से थक गई। वह पीहर की रुखी से कहती कि मैं ससुराल में खाऊँगी। उसके बाद दोनों मौसियों के यहाँ मिलने जाती और अपने आप कोई दे देती तो खा लेती, नहीं तो भूखी रह जाती। रात को ससुराल जाती और सास खाने के लिए कहती तो वह कहती कि मैं पीहर खाकर आई हूँ।

इस प्रकार एक वर्ष के बाद केवल एक ही वक्त खाकर बाप की इज्जत को बचाकर तापी चौदह वर्ष की हुई।

जाति में एक धनवान के यहाँ शादी थी। उसमें रुखी के लड़के को सदा की भाँति ले जाने के लिए वह पीहर गई।

"रुखी घर से निकलकर चबूतरे पर बैठी थी। तापी ने रोज़ की देखी जगह से लड़के के कपड़े लेकर पहराये और उसे चलने के लिए कहा। इसे देखकर चबूतरे पर बैठी हुई रुखी भूत की तरह बोली—'मेरे लड़के को मत ले जाना।'

"तापी ने कहा, 'क्यों, जब रोज़ ले जाती हूँ तब आज क्यों मना करती हो?"

"वह बोली, 'मुझे भेजना नहीं है। चाहे जिसके साथ भेज दूँगी। न होगा तो घर खा लेगा।' तापी ने कहा—'रोज ले जाती हूँ और आज मना करती हो।' ऐसा कहकर वह चलने को होती है कि रुखी तापी की अँगुली पकड़े हुए खड़े बच्चे को ले लेती है और सबको धमकाती है।

"तापी नम्र होकर बोली—'तुझे मेरी क़सम जो न भेजे।'

"वह बोली—'मुझे अपने सर की क़सम जो मैं भेजूँ। तुझे जाना हो तो जा। मेरे लड़के की अपेक्षा तो तू ही बढ़कर है!'

"यह सुनकर तापी की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी और वह वहाँ से चल दी। रास्ते में ईश्वर को याद करती, मौत माँगती, माँ को याद करती···वहाँ पहुँची जहाँ कि ज्योनार थी। वह आँसुओं को रोकती पर वे न रुकते।

व्याकुल तापी ने छोटी ननद तुलजा के पास बैठकर खाया। सदा के नियम को तोड़कर ससुराल आकर कपड़े बदले और चतुर ननद को आश्वासन देकर तापी अपने कमरे में गई।

"माणिकलाल ने जब उसे रोते हुए देखा तो आग्रह के साथ पूछा कि क्या हुआ। यह सुनकर तापी बोली—'मेरे दुःख को क्या कोई मिटा सकता है?'

बाद में सारी बात कह सुनाई। माणिकलाल ने अपने पास जो कुछ खाने को था उसे आग्रह के साथ खिलाया, पानी पिलाया और कहा—'तुझे किसीसे सरोकार रखने की जरूरत नहीं है। और जो कुछ हो सो मुझसे कह। यह समझ कि मैं ही तेरी माँ हूँ और मैं ही तेरी बहन।' इस प्रकार जब समझाया-बुझाया तब कुछ शान्ति हुई और दुःख घटा। दूसरे दिन तुलजा ने सारी घटना माँ को कह सुनाई। वे गुस्सा हो गईं और निश्चय किया कि तापी ससुराल में ही खायगी।

मुन्शियों का कुटुम्ब बड़ा था, इसलिए तीन आदमियों का सवेरे का खाना बड़े लड़कों की बहुएँ बनावें और तापी परसे। शाम को बहुएँ पीहर चली जातीं तो रुखीबा के बदले तापी बनाती। लेकिन रुखीबा के नखरे तो सहने ही पड़ते।

थोड़े दिन बाद दयामा मर गईं। दो महीने बाद माह वदी द्वादशी को नरभेराम मुन्शी भी चल बसे। इस समय माणिकलाल मुन्शी लायब्रेरी में जाकर पढ़ते थे और पत्नी के पढ़ने के लिए पुस्तकें लाते थे।

पिताजी की इस समय की पुस्तकों में से Blair's *Belle Lett-*

ers, Chamber's *Elocution*, Chamber's *Cyclopaedia of English Literature*, Locke's *Essay on Human Understanding*, Whateley's *Rhetoric*, Milton's *Poems*, Longfellow's *Poems*, *The Holy Bible* और Webster's *Dictionary* मुझे विरासत में मिली थीं। उनमें उनके द्वारा दिये हुए नोट उनके अध्ययन का आभास कराते हैं।

इसके बाद तापी रुखीबा की सृष्टि में आई। इतना होने पर भी सच्चे-झूठे और कहने-सुनने के बावजूद जैसे-तैसे करके वह अपने सीधे रास्ते पर चलती रही। वह घर का काम करती, लुक-छिपकर गुजराती पुस्तकें पढ़ती, सीती-पिरोती और कसीदा काढ़ती और 'पतिव्रत धर्म का पालन करती।' एक बार पति-पत्नी के बीच झगड़ा हुआ। पति की इच्छा के विरुद्ध तापी ने माँग भरी। पति ने छत को अटारी का दरवाज़ा बन्द कर दिया। अब न तो आवाज़ देकर माणिकलाल बुला सके और न नीचे जाकर तापी ननदों से कह सके। तापी ने कितने ही दिन बन्द दरवाजे के आगे पृथ्वी पर काटे। अन्त में माणिकलाल को दया आई, दरवाजा खोला और पत्नी को अन्दर लिया।

"किसीको इस बात का पता नहीं। कुछ ही दिन बीते थे कि माणिकलाल को सन्निपात हो गया—इतना तीव्र कि स्वयं हाथ-पैर और गरदन तक न हिला सकें। यह सब तापी करती। वह तनिक भी उसके आगे से न हटती और उसकी मरजी के मुताबिक सब सुविधाएँ जुटाती। इससे वह भी प्रसन्न रहता और उसकी व्याधि का दुःख भी कम होता। इस घटना से दोनों की प्रीति में भारी वृद्धि हुई। कारण, अब दोनों यह समझने लगे कि हम दोनों एक हैं और एक-दूसरे के दुख-सुख के साथी हैं।......धीरे-धीरे प्रेम और प्रगाढ़ हो गया और दोनों को घड़ी-भर भी अलग रहना अच्छा न लगता।"

तापी को ससुराल का काम करना पड़ता और पीहर में प्रसव-प्रसंगों में उपस्थित रहना पड़ता। बच्चों के पालन-पोषण का काम तो चलता ही रहता।

रुखीबा के विवेकहीन क्रोध से तुलजा बीमार पड़ी और प्रसव के समय मृत्यु का ग्रास बनी। तापी ने एक सच्ची सखी खो दी।

"तुलजा के मरने से तापी को बड़ा दुःख हुआ क्योंकि वह उसकी सहेली थी; साथ बैठतीं, साथ गीत गातीं, साथ भगवान के दर्शनों को जातीं, साथ खातीं, साथ नहातीं, साथ व्रत करतीं, साथ दावतों में जातीं और अधिकांश समय साथ ही बितातीं। परन्तु तापी के भाग में यही लिखा है।"

२३ फरवरी सन् १८७३ को पिताजी बीस रुपया, कुछ बर्तन, बिस्तर और ब्राह्मण रसोइया लेकर अहमदाबाद के कलक्टर के आफिस में पन्द्रह रुपया की मुन्शीगीरी करने गये। कुछ दिन बाद मेरी बड़ी बहन तारा आई और पिताजी पच्चीस रुपये मासिक पर गोधरा के सब-रजिस्ट्रार हो गए।

तापी के पीहर में काका की लड़की रुखी के द्वेष का पार न था। तापी ने प्रसव का समय भी रोकर अपमान सहकर निकाल दिया।

उस समय का एक प्रसंग मुन्शियों के पारिवारिक कलह का आभास देता है।

बड़े काका ने घर में ढ़ोकला[1] बनाने के लिए कहा। स्त्रियों ने उसे तैयार कर लिया। रामभाई काका बाहर से आये नहीं थे, इसलिए तापी उनके कमरे में थाली को ढककर रख आई।

"रात को ग्यारह बजे रामभाई काका बाहर से तैयार होकर आये।

"फूल (उनकी स्त्री) बोली—'चलो भोजन करने, यह तुम्हारी थाली ढकी रखी है।'

" 'सबने खा लिया?'

---

१. दलिया या चावल को पीसकर बनाया गया एक खाद्य पदार्थ

" 'सब खाकर सो रही हैं। रुखी (मेरी बूआ) हठीली को क्या कुछ गर्व है ? सवेरे मैं सूरज को जामुन देने लगी तो रुखी ने लेने नहीं दी।'

"राम का पारा गर्म हो गया। सबको गाली देने लगा। नीचे उतरा, हाथ में तलवार ली और 'फरसु (बड़े काका) कहाँ गया ?' कहकर उसे खोजने निकला। फरसराम उसे रोकने चला, लेकिन शिवजी की कृपा हुई कि जैसे ही उन्होंने हाथ में तलवार देखी और 'फरसु' शब्द सुना वैसे ही वे भागे। वे अछुभाई के कमरे में छिप गए।

"राम खोज करके ऊपर आया। तलवार नीचे रखकर थाली हाथ में ली और खिड़की से बाहर फेंक दी। इतने में माणिकलाल ने होशियारी से तलवार ले ली और अपने कमरे में छिपा दी। राम ने पानी पीने का लोटा लिया, भरा; उसे भी खिड़की से फेंक दिया, पान की टोकरी भी फेंक दी। अपना एक चंदेरी दुपट्टा निकाला, उसे लम्बाई में फाड़ा, लँगोटा मारा और 'हर शंभु नारायण' बोलता घर से निकला।

"उसके पीछे माणिकलाल नंगे बदन चले। स्त्रियाँ सभी जागती हुई भी चुप पड़ी रहीं। वे उसके जाने के बाद एकत्रित हुईं। राम दशाश्वमेध पर गया; उसे बिठाया, समझाया तब कहीं रात के चार बजे सवारी वापस आई......माणिकलाल भी उसके साथ ही लौटे।

"रामभाई काका तीन दिन तक नीचे नहीं उतरे और बड़े काका ने अलग खाना बनाकर खाया।"

तापी मेरी बड़ी बहन तारा को लेकर गोधरे गई और उसके बाद उसका गृहस्थ जीवन सुख से बीतने लगा। १८७६ में धनुबहन जन्मी। पिताजी ने कर-विभाग की परीक्षा दी और उनकी तनख्वाह बढ़ गई। तीसरी लड़की पैदा हुई और वह थोड़े दिन जीवित रहकर चली गई। अब शोक और बीमारी में वर्षों बीत गए।

जैसे ही पिताजी की स्थिति सुधरी वैसे ही रुखीबा की ईर्ष्या और वैर

बढ़े । बड़े काका ने कमाते हुए भाई को कुटुम्ब की आमदनी में से कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। दिन-दिन भाइयों के मन ऊंचे होते गए। १८८३ में टीले के छोटे घर में पिताजी तथा माताजी ने अलग खाना बनाना शुरू किया।

१८८७ में उनके सभी संकट अदृश्य हो गए थे।

"तापी वदी पंचमी को गोधरे गई। वहाँ सात बजे गाड़ी पहुंची। कारण, तब गोधरे को ट्रेन सीधी जाती थी। आठ बजे जब घर पहुँची तो खाना तैयार था। दोनों ने खाना खाया और स्नेह से बातें करने लगे। इस दम्पति को न तो आज के जैसा समय कभी मिला था और न वे इतनी शाँति से कभी बैठे थे। आज इन दोनों के भाग्य का सितारा बुलन्दी पर था। छोटी नौकरी से बढ़ते-बढ़ते वे गाँव में एक पद पर आए हैं। दो बड़ी लड़कियों का विवाह करके निश्चिंत हो गए हैं। तीसरी सात वर्ष की है। ईश्वर ने आज सभी प्रकार की सुविधाएँ दे रखी हैं। एक पाई का भी ऋण नहीं।"

इसके बाद इस आत्मकथा में सम्वत् १६१४ की पूस सुदी पूनम का वर्णन है। प्रत्येक तथ्य, प्रत्येक विवरण मां की स्मृति में खुदा हुआ है। दोपहर के बारह बजे मेरा जन्म हुआ।

इतने वर्ष के बाद दोनों की आशा पूरी हुई। मां उल्लास में आकर लिखती है—

"तापी ने नीति के पथ पर चलते हुए प्रभु का भरोसा रखा था, इसलिए प्रभु ने उसे विश्वास और पातिव्रत धर्म का फल आज दिया। यह देखकर उसे प्रसन्नता हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। कारण, वह तो अहर्निश चिन्तन करती—'हे प्रभु! मेरे स्वामी ने अपने कर्तव्य का पालन किया। स्त्री का भरण-पोषण करके उसकी रक्षा करने का जो कार्य है, वह उसने किया। पातिव्रत धारण करके अपने पति की सेवा करना

स्त्री का धर्म है । यदि उसके पुत्र उत्पन्न हो तो स्त्री से होनेवाले पुत्र से पिता पितृ-ऋण से मुक्त होता है । मैं ईश्वर की कृपा से सब कुछ करती हूँ, पर मैं अपने स्वामी को पुत्र नहीं दे सकी, इसलिए मैं समझती हूँ कि मेरे भीतर यह जो कमी है उसका कारण मेरे भाग्य का दोष है ।' वह कमी दूर हुई । अब अभाव कैसा ? इसलिए वह बार-बार प्रभु का उपकार मानने लगी ।"

मेरे जन्म के थोड़े ही दिन बाद पिताजी को मांडवी तालुक की तहसील-दारी मिली । 'श्रीकृष्ण के बाल्यावस्था के आनन्द को देखकर यशोदा को होनेवाले हर्ष का कवियों ने जो वर्णन किया है उसका ठीक-ठीक आभास होता,' मां लिखती है ।'

इसके बाद बड़ी बहन सख्त बीमार हुई । रुखीबा के प्रताप की लपट लगती ही रही । उसके सच-झूठ कहने से बड़ी लड़कियों की ससुराल में भी उन पर मार पड़ने लगी ।

१८६२ में मेरी बड़ी बहन विधवा हुई । थोड़े दिनों में दूसरी बहन विधवा हुई । दुःख के बादल घिरने लगे ।

पिताजी सारा समय अपने कार्य में व्यस्त रहते और नौकरी में प्रगति करते जाते ।

उनकी विशिष्टताओं में टीले की मस्ती का अभाव और चारित्रिक दृढ़ता दो प्रमुख हैं । अफवाह सुनी थी कि जवानी में उन्हें एक ब्रह्मक्षत्रिय मित्र के यहां शराब पीने की आदत पड़ गई थी । लेकिन मां ने कसम दिलाई और उन्होंने जीवन-भर उस वचन का पालन किया । उन्हें गाना-बजाना तो आता था—उतना जितना कि टीले के वारिस को आना चाहिए । लेकिन घर या बाहर उन्हें खेल-तमाशा या महफिल क़तई नापसन्द थे । उनको आनन्द के लिए दो बातों की आवश्यकता थी—अंग्रेजी उपन्यास और मां के साथ वार्तालाप ।

पिताजी और माताजी के बीच अद्भुत ऐक्य था—अर्वाचीन और आदर्शमय। दोनों एक-दूसरे से कुछ भी नहीं छिपाते थे—एक को छोड़कर दूसरे के लिए कोई दूसरा मित्र भी नहीं था। पिताजी उग्र होकर जब-कभी नाराज़ भी हो जाते थे, पर यह तो टीले का स्वभाव ठहरा। माँ ने इस उग्रता को सहने की कला सीख ली थी। पिताजी को मां की व्यावहारिकता में श्रद्धा थी, इसलिए उसकी सलाह के बिना पत्ता भी नहीं हिलता था। लेकिन पिताजी अपने स्वभाववश, उदारता के कारण अथवा भोलेपन में चाहे जो कर आवें, मां को उसके कारण कभी घबराहट नहीं होती थी। टीले के मुंशियों को प्रसन्न रखने का कार्य उनकी मां-बहुओं को सदा से कठिन लगता रहा है, लेकिन मां ने इस कला को सरलता से सीख लिया था। उस समय एक-पत्नीव्रत निभाने की चिन्ता शायद ही किसी को रहती हो, लेकिन पिताजी इस व्रत से टले हों, यह किसीके जानने में नहीं आया। किसीसे यह भी सुनने में नहीं आया कि वे गृह-कलह के विकट प्रसंगों में उलझे हों। बड़े भाई और रुखीबा पिताजी के लिए अत्यन्त घृणा प्रकट करते हुए कहते—"यह कौन नहीं जानता कि वह घोर शत्रु है।"

: १५ :

जब मेरा जन्म हुआ तो मुझे बड़ा लाड़-प्यार मिला। छः लड़कियों के बाद मैं ही एक लड़का था। सबको प्रतीक्षा कराते-कराते मैंने थका डाला था। मेरे आते ही पिताजी तहसीलदार हुए। फिर जब मैं छोटा था तब मैंने सबके मन में यह धारणा जमा दी थी कि मेरे भीतर बड़ी भारी चतुराई है। लेकिन यह मुझे पता नहीं है कि मैंने ऐसा कैसे किया था।

मैं बिना देवताओं की कृपा के स्वयं ही मृत्युलोक में आ गया। मां ने पुत्र की लालसा से अनेक बार महादेव की मानता मानी थी। लेकिन

किसीकी दयावश आना मुझे रुचा नहीं । मैं कैसे चला, कैसे गिरा, कैसे शेर बना, कैसे स्याही की मूँछें लगाईं आदि पराक्रमों के संग्रह की वृत्ति यदि प्रत्येक मां-बाप में न हो तो ऐसे छोटे, गन्दे, चियाऊं-मियाऊं करते हुए मनुष्य के बच्चे को कौन पाले ! लेकिन सब-कुछ होते हुए भी एक बात अवश्य है और वह यह कि दुलारे बेटे की देख-भाल करने के लिए सभी सकारण या अकारण कुछ-न-कुछ करते ही रहते और इसके कारण मुझे भी वैसा कराने की कुछ आदत-सी पड़ गई । मां, बहन, स्त्री या लड़का कोई भी यदि ऐसा करने में चूक जाता तो मेरा दम घुटने लगता, जीवन निस्सार प्रतीत होता और वैराग्य के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता ।

यदि मेरी पहली दुश्मनी किसीसे हुई तो अन्न-देव से। खाने का वक्त मेरे रोने का वक्त होता था । मां, तीनों बहनें और मुझे प्यार करने वाले स्नेही जुलूस-सा निकालते थे । एक खाने की वस्तु लेता था, दूसरा घंटी लेता था, तीसरा मुझे गोदी में लेता था और चौथा सीटी बजाता था। उसके बाद हम दो-चार कमरों में या कभी-कभी एक-दो घरों में घूमते थे । 'भाई' को चुप रखने के प्रयत्न होते थे । इसमें कभी 'भाई' चुप हो जाते थे और अनजान में कौर निगल जाते थे। यह दुश्मनी आज तक चली आती है ।

मुझे प्रथम स्मृति एक भयंकर आधी रात की है । एक छोटे-से बिछौने पर मैं ज़मीन पर सो रहा हूं। बिछौने पर एक तम्बू जैसी मच्छरदानी है । मेरे शरीर के आस-पास मानो अंगारे हैं । मेरा छोटा-सा सर फटा जाता है। आंखें ज्वर-प्रकोप से खुलती नहीं । लुप-लुप-लुप···कोई मेरी कनपटी में हथौड़े मार रहा है ।

मेरे कान में एक परिचित आवाज़ आती है। छोटा-सा कोमल हृदय धड़क उठता है। मेरे मस्तक पर हाथ फिरता है—सुकुमारता से; मेरे हृदय पर फिरता है—प्रेम से। मैं पहचानता हूँ इस स्वर को—इस स्पर्श को,

वर्षों तक इसकी अनिर्वचनीय ममता का सौभाग्य मुझे मिला है। मेरे मुख से निर्बल, मन्द और कांपती आवाज निकलती है—"माँ!" "ओ भाई! मैं आती हूँ, अच्छा!" अश्रुसिक्त स्वर उत्तर देता है।

मैं बड़ी मुश्किल से आँखें खोलता हूँ। टेबल पर लैम्प मन्द-मन्द जलता है। मेरे पास बिस्तर पर पिताजी और माताजी आमने-सामने बैठे हैं। दोनों धीरे-धीरे बातें कर रहे हैं। दोनों की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। मेरे मस्तिष्क में प्रश्न उठता है—'ये सब क्यों रोते हैं?' लेकिन मेरा दुर्बल शरीर मूर्च्छा के वश में हो जाता है। मेरी आँखें बन्द हो जाती हैं।—सवेरे मैं उठता हूँ और वैसे ही 'माँ-माँ' पुकारता हूँ। शीघ्र पास के बिस्तर से उठकर पिताजी आते हैं। "क्यों बेटा?" "माँ—" "वह तो आई थी पर चली गई। कोई बात नहीं, मैं हूँ न?" कहकर वे मुझे हृदय से लगा लेते हैं।

इस रात की भयंकर स्मृति मुझे चिरकाल तक बनी रही। यह १८६४ की बात है। पिताजी चोराशी के तहसीलदार थे। हम सूरत में बड़े मंदिर के पास रहते थे। उन पर अपार विपत्ति आ पड़ी थी। सत्रह और उन्नीस वर्ष की दो बड़ी लड़कियाँ कुछ ही महीनों में विधवा हो चुकी थीं। माँ शोक के कारण भड़ौंच में थी और इकलौता बेटा मृत्यु-शैया पर पड़ा था। लोक-लाज ठुकराकर और शोक को भूलकर माँ रातों-रात आ गई।

मैं भी उसे सरलता से छोड़ने वाला न था। मैं स्वस्थ हो गया।

: १६ :

प्रसिद्ध ग्रीक कहानी है। पेल्युस राजा के यहाँ दावत थी। उसमें वे वैरदेवी ने एक फल रखा। ऊपर लिखा था—'सर्वोत्तम सुन्दरी के लिए।' उसके लिए पेरिस के न्यायाधीश को नियुक्त किया गया। उसने वह फल वीनस—रति—को दिया। उस देवी ने उसे सुन्दरतम स्त्री देने का

वचन दिया। उसको लाने के लिए ग्रीक ट्राजनों के साथ बारह वर्ष तक लड़कर मर गए। ट्राय हारा और मारा गया। ग्रीक जीता—परन्तु दीप्ति-हीन हो गया।

टीले के ऊपर में वैर का ऐसा ही फल होकर आ पड़ा।

सारी जायदाद बड़े काका के अधिकार में थी। वे अपने घर में निश्चिन्तता से रहते थे। हवेली के पिछले भाग में तीसरी मंजिल पर रामभाई काका और पहली मंजिल पर बूआ रहती थीं। दीवानखाना, आगे का दालान, बीच का चौक और उसमें का महादेव जी का मंदिर सम्मिलित धर्मशाला जैसा था। हम तो बाहर रहते थे। कभी-कभी आते भी थे तो छोटे घर में रहते थे—नीचा और पुराना घर बिच्छुओं और छपकलियों से भरा था; जीना चढ़ते हुए या तो पैर फिसलता था उसकी खिड़की से टकराता।

लेकिन सब भाइयों में लड़के बड़े काका के यहाँ ही थे। इसलिए जमीन की अधिकांश आमदनी भी वे लेते थे और सबकी मुखियागिरी भी वे ही करते थे। सम्मिलित कुटुम्ब की दासता जिसने देखी हो वही उसकी कल्पना कर सकता है और जिसने देखी हो वही उसका वर्णन कर सकता है। लेकिन मैं आया। कुछ महीने में चंदा काका के भी लड़का हुआ। पिताजी ने सोचा कि अन्तिम बार के लड़ के के लिए मैं यदि शीघ्र-से-शीघ्र अलग प्रबन्ध नहीं करूँगा तो इसका क्या होगा? उन्होंने अपना हिस्सा मांगा—चालीस वर्ष बाद बड़े काका के कार्यभार में हाथ डालने का प्रयत्न हुआ···! गजब हो गया।

युद्ध के नगाड़े बजने लगे, घर-घर अलग-अलग शंखनाद हुआ। बादलों में गड़गड़ाहट की प्रतिध्वनि हुई। स शब्दस्तुमुलो भवत्! टीले पर यादवा-स्थली का प्रारंभ हुआ।

पहले तो युयुत्सुओं की छावनियाँ पड़ीं—एक हमारी और हमारे पास ही मधुभाई काका की। उनके हिस्से में भी गड़बड़ थी, इसलिए बड़े काका

से उनकी भी खटपट थी। छोटी बूआ कोमल और ममतामयी थी। पिता-जी से उन्हें बड़ा प्रेम था। वह यहाँ से वहाँ जाय, सामनेवालों की गाली खाती जाय और पिताजी तथा माताजी के सामने आँसू बहाकर उनसे आश्वासन माँगे। अधुभाई काका बड़बड़ाते—"इस बहरे की आ बनी है।" जवाब में बहरे बड़े काका हेकड़ी के साथ कहते—"मेरे कान बहरे हैं पर कच्चे नहीं।"

विरोधी दल में उनकी छावनी बड़ी ही जबर्दस्त थी। उनका कुटुम्ब बड़ा था, हाथ में सारी जायदाद थी और जाति की मुखियागीरी थी।

दूसरी छावनी रामभाई काका और उनकी बहादुर स्त्री की थी। उनको लड़ पड़ने के लिए कारण की आवश्यकता न थी; पर उसमें यह कारण भी आ मिला था। हिस्सा तो चाहिए ही था, परन्तु माणिक भाई के प्रति उनके द्वेष की कोई सीमा न थी। तीसरी ओर घोर दुःखदायी रुखीबा की छावनी थी। चन्दा काका को साथ लेकर उसने चारों ओर आग बरसाना शुरू किया।

फौजों की कवायद हुई। महारथियों की मंत्रणाएँ चलीं। संधि कराने वालों की दौड़-धूप शुरू हुई। टीले के टुकड़े होने को थे।

"बड़े आये हिस्सा माँगनेवाले! शर्म नहीं आती। इतने वर्षों में क्या कम मिला है भाई? क्या माणिक भाई को कम तनख्वाह मिलती है? हिस्सा! हिस्सा कैसा? उस बीमार छोकरे का? अरे उसे जीने तो दो; कल तो वह मर रहा था! अच्छा है बड़ा हो, सौ वर्ष का हो, फले फूले। चन्दालाल अभी बच्चा है (तीस वर्ष का होगा)। हिस्सा! हिस्सा! हिस्सा क्या? अरे जब चाहिए तब बात कर लेना पर अभी किसलिए? किससे कहूँ? माणिक भाई तो बेचारा अच्छा आदमी है, लेकिन वह—वह चिमन मुन्शी की छोकरी ऐसी है कि तोबा!

बड़े काका की बात बिलकुल ठीक थी। पिताजी स्नेही, भोले दिल के और बात को सुनकर भी अनसुनी-सी कर देने वाले थे। बड़े काका उन्हें बातों में ले लेते

और वे आ जाते। मां की सत्यता और व्यवहार-कुशलता अद्‌भुत थी। वह बड़े काका की सब चालें समझ जाती। आधी उम्र तक उसने एकत्र रहने की पीड़ा सही थी, लेकिन अब वह नहीं सहना चाहती थी। विधवा लड़कियाँ किसके सहारे रहेंगी? एकमात्र पिछले लड़के का क्या होगा? लेकिन वह स्वयं तो बड़े काका के साथ बात कर नहीं सकती थी, इसलिए उसका सारा समय पिताजी को सभी प्रकार के दाव-पेच समझाने में जाता था।

जब मैं खेलता-खेलता बड़े काका के घर में जाता तो वे मुझे बड़े प्रेम से बुलाते—'अरे, इधर आ, भय-तीजे!'

किसीने भतीजे के इस समास-विग्रह के सम्बन्ध में पूछा तो उन्होंने कहा—"पहला भय यम का, दूसरा भाई का, तीसरा भय भतीजे का। इसके आते ही माणिक भाई ने हिस्सा माँगना आरम्भ कर दिया।"

विग्रह का प्रथम छापा मारा गया। बड़े काका ने पिताजी को चिट्ठी लिखी—"सब तैयार है; तुम्हारे आने की देर है।" पिताजी मुश्किल से छुट्टी ले लेते हैं और हम भड़ौंच आते हैं। पहले दिन बड़े काका माँ से मिल जाते हैं, हँसकर मीठी बातें कर जाते हैं, पिताजी उनसे मिल आते हैं और ऊपर-ऊपर की बातें होती हैं। "कुछ ठहरो तो सही मेरे भाई! हिस्सा क्या कहीं भागा जाता है? तैयार है, हमारे बैठने की देर है।"

दूसरे दिन बड़ी कठिनाई से भाई से भाई मिलते हैं और बिखर जाते हैं। तीसरे दिन फिर मिलते हैं और असली बात पर आते हैं। बड़े काका कुछ कहते हैं, रामभाई काका या बूआ के विषय में धीरे से एक शिगूफ़ा छोड़ते हैं और सब सुलग उठते हैं। रामभाई काका से कोई कुछ कहे तो वे कागज़ फाड़ डालें, स्याही उँड़ेल दें। सब खड़े हो जाते हैं। चारों ओर सिंहों की गर्जना होती है। प्रत्येक के घर से आकर स्त्रियाँ पतियों को घर में ले जाती हैं। घण्टों तू-तू-मैं-मैं होती है। सबके द्वार बन्द हो जाते हैं। पिताजी की छुट्टी खत्म हो जाती है और वे सूरत लौट आते हैं।

"बैठ, बैठ; रामभाई ! तेरे लड़का तो है नहीं फिर इतना लोभ क्यों ?" एक बार बड़े काका ने हँसते-हँसते कहा—"महादेवजी को पूजना था तो पूरी तरह पूजते !"

काका उठ गए। "अच्छा, अच्छा। महादेव तुम्हारे अकेले के हैं !" जो कुछ कहा जा सकता था वह उन्होंने कहा. लिखे हुए कागज़ फाड़ डाले, और काकी को रुलाया। बाद में वे टंकी पर गये, दो घड़े कन्धे पर रखे और भीगी धोती से "बम-बम भोलानाथ" करते हुए मन्दिर में आये। "हर-हर भोलानाथ !" महादेव को सम्बोधित करके वे बोले—"महादेवजी, तुम्हारी पूजा करते-करते मैं तंग आ गया और तुमसे एक लड़का नहीं दिया गया ? एक भी नहीं ? तुम अपने मन में समझते क्या हो ?" उन्होंने वहां पड़े हुए चन्दन से चन्द्रशेखर को मारना शुरू किया—"ले, मज़ा चख ले। एक लड़का भी नहीं दिया गया ?" चन्द्रशेखर महादेव के सुन्दर लिंग पर का एक निशान इस घटना की आज भी साक्षी देता है।

रुखीबा को गुस्सा करना भी सरल था। उसके पास कुछ मल्कियत है, इसलिए उसके कारण ही तकरार होती है—बड़े काका ऐसा कहते और झगड़ा खड़ा हो जाता। कोई यदि यह कहता कि इतना बड़ा चन्दालाल बहन का मारा हुआ है तो इसी पर झगड़ा खड़ा हो जाता। वह चबूतरे पर आ बैठती और वाणी का विसुवियस फट निकलता। मैंने सब कुछ स्वाहा कर देने वाली अग्नि की लपटों का प्रवाह देखा है, परन्तु घण्टों तक बूआ के मुंह से निकलते हुए वाणी के प्रवाह के सम्मुख विसुवियस चाय की केटली के समान लगता है—तुम्हारे रोम-रोम को जला दे; तुम्हारे नाते-रिश्तेदारों को खड़े-खड़े सुलगा दे; तुम्हारे रीति-रिवाज, विशेषता और स्वाभिमान को चीरकर उसमें मिर्च भर दे और प्रवाह ज्यों-का-त्यों अस्खलित तथा अथाह बना रहे; सब थककर किनारा कर जायँ तभी रुके। अद्भुत वाक्चातुर्य !

भयंकर गर्जना थी—सबको दबा देती। वे थोड़ी देर तक क्रुद्ध होते थे, परन्तु दी हुई धमकी पर तुरन्त अमल करते थे। परिणामस्वरूप सब उनसे डरकर चलते थे। "रहने दो, रहने दो माणका भाई का स्वभाव बिगड़ गया है," बड़े काका हँसकर समझाते। रामभाई काका तीसरी मंजिल पर और बूआ अपनी कोठरी में घुस जाती। मैं ही अकेला बहादुर बन जाता। मैं पिताजी के पास थोड़ी-सी दूर पर खड़ा रहता और यह सोचकर खुश होता कि जो कुछ वे बोल रहे हैं वह मैं ही बोल रहा हूँ।

इस विग्रह का दूसरा अंक आरम्भ हुआ। पिताजी ने सूरत की अदालत में दावा दायर किया—हिस्सा दो और हिसाब बताओ। गालियों की वर्षा हुई, परन्तु उसमें भीगती मेरी माँ साहस के साथ अभागी पुत्रियों के दुःख को दूर करने में व्यस्त थी। बड़े काका समझ गए कि इस प्रकार काम नहीं चल सकता। माणका भाई को ठण्डा करना चाहिए। कागज़ लिखे—'भाई, मैं कब ना कहता हूँ।'

सूरत में पिताजी के पास मैं अकेला रहता था। एक रात को अचानक बड़े काका आ धमके। वर्षों से जिसने टीला नहीं छोड़ा था उसने आज छोड़ा। पिताजी ने प्रेमपूर्वक उनका स्वागत किया। कोई शरण में आवे तो उसके मन की बात करनी चाहिए। निश्चय हुआ कि पिताजी सब-कुछ छोड़ दें। सलाह देनेवाली माँ मौजूद नहीं थी। कौल-करार हुए—"दावा मधुभाई काका की पंचायत में भेजा जाय। पुराना हिसाब रहने दो मेरे भाई! छोड़ो, घी कहां गया; खिचड़ी में। इसका दुःख क्या! घर तो हम बैठकर बाँट लेंगे। ज़मीनों की चिट्ठियाँ डाल लेंगे। फिर क्या है? माणका भाई! तू कहेगा वही होगा। कनु तेरा लड़का है तो क्या मेरा नहीं है? जैसा मेरा अचु है वैसा ही मेरे लिए कनु है। और देख तो सही यदि मैं कहूँ कि मुझे इतना चाहिए और वह मुझे नहीं दे तो तू क्या करेगा।" पिताजी सतुष्ट हो गए।

जब माँ ने यह बात सुनी तो उसके असंतोष की सीमा नहीं रही। 'फरसु भाई कच्चा नहीं; अवश्य गड़बड़ करेगा और अपना काम बना लेगा। न होगा तो सूरत आवेगा। अधुभाई जी सीधे हैं, उन्हें फरसु भाई बहका लेगा।'

लेकिन पिताजी दृढ़ रहे। 'जो कुछ होगा, देखा जायगा। आखिर तो मेरा मां-जाया भाई है। उसका कुटुम्ब भी बड़ा है। हमारे तो एक ही लड़का है।' और सदा की भांति आश्वासन देने लगे—"चार हाथ का स्वामी जब देने लगेगा तो हम दो हाथों से सँभाल कैसे सकेंगे? और चारों हाथों से वह लेने लगेगा तो हम दो हाथों से बचा कैसे सकेंगे?"

मातृ-प्रधान और पितृ-प्रधान (Matriarchal और Patriarchal) वृत्तियों का यह सनातन विरोध है। स्त्रियों को पति और सन्तान प्रिय होती है; पुरुष को कुल प्रिय होता है। एक अपने जने हुओं को देखती है, दूसरा अपनी माँ के जने हुओं को नहीं भुला सकता। स्त्री वृत्ति को कुचलकर पुरुष-वृत्ति की स्थापना के सिद्धान्त पर सम्मिलित कुटुम्ब की रचना हुई है। परिणामस्वरूप स्त्री की कुचली हुई वृत्ति बाहर आने का प्रयत्न करती हुई तथा अस्वाभाविक विरोध उत्पन्न करती हुई चली जाती है—अश्रुधारा प्रवाहित करती हुई; हृदय और जीवन के टुकड़े करती हुई। जब तक इस विरोध का शमन नहीं होता तब तक कुटुम्ब सुखी नहीं रहता।

अधुभाई काका ने ऐसे मध्यस्थता ग्रहण की जैसे कोई महाराज न्यायासन पर सुशोभित हुए हों। जो कुछ लोग कहते उसे वे सुनते। देर होती तो उसकी वे चिन्ता न करते। होता है, चलता है। बड़े काका की चालें वे न समझते और उनमें फँस जाते तो पिताजी और माताजी व्याकुल हो जाते।

घर का बटवारा हुआ। मां ने कहा—'चलो, किसी दूसरे मुहल्ले में, कोई अच्छा-पूरा घर लेकर रहें। पिताजी ने साफ इन्कार कर दिया।

मुन्शी का टीला छोड़कर जाऊँ ? ईश्वर ने मुझे अच्छी स्थिति दी है तो क्या किशनदास मुन्शी की कीर्ति को बढ़ाने के बदले घटाऊँ ? और अपने भाइयों से मिलने आना हो तो क्या पगड़ी पहनकर आऊँ ? नहीं। हवेली का अगला भाग—बैठक, दालान, तीसरी मंजिल—कोने का भाग—पिताजी ने रखा। महादेवजी कौन लें ? पिताजी ने माँग लिए, 'मेरे कुल देव हैं; टीले के अधिष्ठाता हैं !'

उन्होंने सुख का अनुभव किया—वे टीले के स्वामीत्व और गौरव के धनी बने।

लेकिन बटवारा पुरानी रीति से हुआ। लड़ाई-झगड़े के लिए जितनी अधिक गुंजाइश रखी जा सकती थी उतनी रखी गई। यह दरवाज़ा सबका, यह टंकी सबकी, लेकिन उस दालान में यह जाय वह न जाय।

ज़मीनों का बटवारा हुआ। अकेले बड़े काका को ही ज़मीनों का हाल मालूम था, इसलिए उन्होंने स्वयं ही चार भाग किये। "बराबर हिस्से ?" "हाँ। क्या मैंने कभी भाइयों के साथ कपट किया है ?" चारों भागों की चार चिट्ठियाँ हुईं। मध्यस्थ की देख-रेख में चिट्ठियाँ चन्द्रशेखर महादेव के आगे डाली गईं। बड़े काका के छोटे लड़के अधुभाई को ईश्वरीय अंश समझकर उसके द्वारा चिट्ठियाँ उठवाई गईं और इस प्रकार ज़मीनों का बटवारा हुआ। पंचायतनामा लिखा गया।

दो-चार दिन में बात खुली और रुखीबा को मालूम हुई। बड़े काका ने चार भाग किये। पहला उपजाऊ, मँहगी और अच्छी आयवाली ज़मीन का; दूसरा उससे घटिया पर अच्छी जमीन का; तीसरा उससे घटिया ज़मीन का और चौथा, बिलकुल दूर-दूर और पथरीली, ऐसी ज़मीन का जिसका न तो कहीं पता चलता था न जिसका नम्बर ही मिलता था। फिर ईश्वरीय या अनीश्वरीय प्रेरणा से चिट्ठी उठाई थीं अधुभाई ने, जिसके अनुसार पहला भाग बड़े काका को, दूसरा पिताजी को, तीसरा रामभाई काका को और चौथा चन्दा काका को मिला था।

रुखीबा चबूतरे पर लड़ने आई। "यह 'बहरे' की ही कारस्तानी है। इसीने बदमाशी की है। सारी ज़मीनें स्वयं दबा लीं। चन्दालाल को ठग लिया। अचु को सिखाकर चिट्ठियाँ उठवाई।"

बड़े काका हँसते-हँसते जवाब देने निकले—"मैं क्या करूँ? नसीब चन्दालाल का! मैंने तो यह चौथा भाग माणक भाई के लिए रखा था, लेकिन महादेवजी उसके अनुकूल निकले। अचु ने भूल की। खराब ज़मीन का भाग उसे देने के बदले चन्दालाल को दिया। मैं क्या करूँ? अब जो कुछ तुझे करना हो कर।" और चन्दा काका के लड़कों को वर्षों तक ज़मीनें ढूँढ़ने में जान खपानी पड़ी।

पंचायतनामा लिखा गया—भाग हो गए।

विग्रह का तीसरा अंक आरम्भ हुआ। पंचायतनामे के अनुसार मल्कियत और वस्तुओं का बटवारा करना शेष रहा।

क्या यह दरवाज़ा बन्द होगा? होगा—नहीं होगा। एक बन्द करता, दूसरा ताला तोड़ता। सब लड़ने चले। तू-तू-मैंमैं और गाली-गलौज हुई।

क्या इस चबूतरे पर पाखाना बनेगा? बनेगा—नहीं बनेगा। एक बनाता, दूसरा खोद डालता। पुलिस में रिपोर्ट की जाती। सिपाही आते। ज़मीन ली जाती। रुखीबा सिपाहियों पर गर्म पानी डालती।

टंकी में से पानी कैसे लिया जायगा? घड़ा किसका? रस्सी किसकी? पहले कौन लेगा? कुटुम्बी ही ले सकेंगे कि नौकर भी?

झगड़ा—फ़साद—दरवाजों और खिड़कियों का खुलना तथा बन्द होना—गाली-गलौज—रोना-पीटना—यह रोज का काम था।

दूसरा प्रश्न आया। जाति का मुखिया कौन हो? पंचायत का हिसाब क्यों न दिया जाय? ठाकुर (नरभेराम के वैरी शंभुराम ठाकुर के वंशज) तो टीले की मुखियागीरी को मिटाने पर तुले थे। उन्होंने यह बात उठाई। घर-घर भाइयों, सास-बहुओं, बहनों और भाइयों के बीच बैर बंधा।

कौन किसके पक्ष का—फरसु मुंशी के या माणक मुंशी के ? बड़े काका को कौन पा सकता था ? किसकी मजाल थी कि उनके सामने उनसे हिसाब माँगता ?

आज के आदमी को पंचायत का अर्थ समझने में देर लगेगी । कोई साधारण-सी भी बात हो । किसी बड़े आदमी को किसीसे कुछ शिकायत हो कि एक-दो वृद्ध बड़े काका से मिलते या वे उनको बुलाते । दोपहर को आदमी घूमता—"सब भाई दीया-जले भृगुभास्कर के मंदिर में इकट्ठे हों । आज रात को पंचायत होने वाली है ।...."

एक बार किसीने कुछ किया—क्या, यह याद नहीं । बड़े काका ने खबर भिजवाई । एक मुहल्ले ने दूसरे मुहल्ले से लड़ना शुरू किया । चर्चा चली । 'यह मुखिया-सा......कौन है ?....जाति तो गंगा का प्रवाह है' ...'आज देखना ! अधुभाई सरकार और माणक भाई दोनों गाँव से आये हैं । समुभाई और मधुभाई ठाकुर बड़ौदे से आने वाले हैं । आज अवश्य मार-पीट होगी ।' '—अरे, इस बहरे की क्या बिसात है ? पचास वर्ष से पंचायत का हिसाब लिये बैठा है ।'...'अरे, रहने दे, रहने दे ! तूने आजकल के माणक मुंशी को नहीं देखा । दिमाग़ में जो कुछ फतूर है सो सब निकल जायगा ।'

रात होते ही नये मंदिर के चबूतरे पर ठठोली करने वाले आने लगे । नाटक की भाँति सीटियाँ बजने लगीं । रास्ते पर जवानों की टोलियाँ फिरने लगीं ।

दस बजते ही अनेक वृद्ध आकर आसपास के चबूतरों पर बैठ गए । नये मंदिर में दरियाँ बिछाई गईं । दीपक जलाये गए । ठठोली करने वालों ने घण्टे बजाए और बकरे की बोली बोल पार्वती को रिझाने का प्रयत्न आरम्भ किया ।

बारह बजे । पिताजी अधुभाई काका के पास जाकर बैठे । हमारे पक्ष

के नेता भी आकर बैठे । 'जब फरसुभाई जाय तब जाना।' बड़े काका के यहाँ उनके पक्ष के नेता आये ।

माँ, बहनें और मैं काँपते हृदय से यह सब देखने के लिए मंदिर के सामने पड़ने वाली बैठक की खिड़की में बैठे ।

एक बजा । बड़े काका अपने चेलों को साथ लेकर बाहर निकले । हमें सुनाने के लिए वे जोर से कह रहे थे—"देखता हूँ कि किसने अपनी माँ का दूध पिया है, जो मेरे सामने बोले ।"

हम सुन सकें, इतनी धीमी आवाज़ में माँ ने कहा—"तुमने और दूसरे किसने ?"

मधुभाई सरकार रसाले के साथ उतरे । सबसे आगे वालसीट के दो दीये थे। पीछे मोरार था, हाथ में पीकदान लिये । उसके पीछे सरकार—पगड़ी और अँगरखे में, कंधे पर सफेद शाल डाले हुए (पंचायत के समय टीले के मुंशी मुखियागीरी के रोब में कोट नहीं पहनते थे), साथ में पिताजी, माधुभाई ठाकुर आदि । पीछे कोदर-ऊँचा, मोटा-ताजा, हाथ में पान की डिबिया, तकिया और मसनद लिये ।

दोनों पक्ष पहुँच गए यह जानकर रास्ते में खड़े हुए और चबूतरे पर बैठे हुए भार्गव नये मंदिर में दौड़े । महादेवजी के सामने बनाई हुई बैठक के आसपास युवक खड़े हुए; दरी पर तीस-चालीसेक 'पगड़ियाँ' बैठीं । बीच में एक ही तकिया था—उस पर बड़े काका बैठे । कोदर दौड़ा, पास ही गद्दी बिछाकर तकिया रखा और उस पर सरकार बैठे। पास ही पिताजी बैठे, शंभुराम कोतवाल की प्रतिष्ठा के धनी जमुभाई और माधुभाई ठाकुर भी पास बैठे ।

बड़े काका तीव्र दृष्टि से सबको देखने लगे । सब शान्त हो गए ।

"लड़को, बैठ जाओ !" सरकार ने आज्ञा दी ।

"अब कहो," बड़े काका ज़ोर से अधिकारी स्वर में बोले—"क्या कहना चाहते हो ?"

हमारी ओर के लोग खिलखिलाकर हँस पड़े।

"चलो, जल्दी करो," एक वृद्ध ने कहा—"अभी मुर्गा बोलेगा।"

"इसने क्या कहा ?" बड़े काका ने पुत्र से पूछा। उसकी बात सुनते पाँच मिनट निकल गए।

"जाति की मुखियागीरी की बात करो," एक युवक आगे बढ़कर काँपती आवाज़ में बोला।

"पंचायत हिसाब माँगती है," पुत्र ने बड़े काका के कान में मंत्र फूँका।

"लड़के," फरसु मुंशी विकराल रूप में गरजे—"किसका लड़का है ? बिना पगड़ी पहने आया है और बोलता है ? जा अपने बाप से कह कि वह पगड़ी दिलावे, उसके बाद आना। जाति की मुखियागीरी करने आया है—क्या मुँह लेकर ?"

'पगड़ी पहनकर आ' 'अपमान···पंचायत में बोलता है', 'अभी दूध के दाँत भी तो उखड़े नहीं हैं', 'फरसु मुंशी का दुश्मन है', 'अरे, चार बेटों का बाप है', 'चुप रह'—'चुप रह'—'हो, हो, हो।' चीख-पुकार मची। पीछे से लड़कों ने सीटियाँ बजाईं। अधुभाई काका गरजे। 'क्या हम किसीसे कमज़ोर हैं ?' वे खड़े होने को हुए।

"फरसु मुंशी ने पंचायत का अपमान किया है," हमारे दल का एक लम्बा-तगड़ा मास्टर खड़ा होकर ज़ोर से बोला।

"बैठ! बैठ!" तिरस्कार से बड़े काका ने कहा—"बड़ा आया अपमान वाला! सारी जाति को तंग कर डाला है।"

अधुभाई काका ने कहा—"मास्टर, नहीं बैठोगे ?"

"क्यों, माणकभाई के दल में रहकर बहुत घमंड हो गया दीखता है ?" बड़े काका ने व्यंग्य किया।

अधुभाई काका ने आस्तीन चढ़ाई । बड़े काका ने हाथ में डंडा लिया। भाई लड़ पड़े। सब एक साथ बोल उठे—"क्या समझते हो ?—रहने दो —मुखिया होगा अपने घर का !—किसीका अन्नदाता थोड़े ही है!... शान्ति रखो।...हे भाई क्या तुम्हें यह शोभा देता है?...फरसु मुंशी के बाप की भी चिंता नहीं है! ...अधुभाई सोगए ।...माणक मुंशी पैसेवाला है तो अपने लिए—मारो मारो—हर-हर महादेव..."

किसी ने बीच में ही दीपकों को ज़मीन पर गिरा दिया । हो-हो होने लगी।

लोग हाथापाई पर आ गए । लड़के बकरे की बोली बोलने लगे । कादेर और मोरार सरकार से चिपट गए। बड़े काका अपने लड़कों को सँभालने लगे।

हमने हल्ला सुना और हमारा कलेजा काँप उठा । सारे कोलाहल को चीरकर बड़े काका, अधुभाई काका और पिताजी की प्रचंड आवाज़ सुनाई दे रही थी।

पंचायत भंग हो गई। जो जिससे पीटा गया, पीट लिया । मास्टर प्याऊ में घुस गए। एक भाई मंदिर के ढोल को फाड़कर उसी में छिप गए। दूसरे ने भाँग की तरंग में डंका लेकर शंकर जगाने के उद्देश्य से उस भाई के सर पर ढोल बजाया । एक मज़ाक करनेवाले ने जूतों के जोड़े लेकर कुँए में डाल दिए। शिवजी के सभी घण्टे बजने लगे। 'हर हर महादेव' की ध्वनि गूँजती रही। बड़े काका बाहर आये, कादेर और मोरार ने सरकार को उठा लिया । पिताजी भी बाहर आये ।

सवेरे देखा तो लालटेन के शीशे के टुकड़े, सिमटी हुई दरी और फटा हुआ ढोल आक्रान्त रणभूमि में पड़े थे ।

दूसरे दिन फूट पड़ गई। हमारी भाषा में फरसु मुंशी ने कड़ा खनखनाया; किसी अपने आदमी की मां या दादी की तेरहवीं या बरसी करने का बहाना लेकर बड़े काका ने दावत दी और हमारे दल के लोगों को निमंत्रण नहीं दिया।

यह देखकर तुरन्त अधुभाई काका और पिताजी मिले और इधर भी कड़ा खन-काया गया। नया चिट्ठा तैयार किया गया और अपने दल के लोगों को निमंत्रण दिया गया। लड़कियों का ससुराल जाना रुका; बहुओं का पीहर जाना रुका; भाइयों ने आपस में अबोला साधा; बहनों ने एक-दूसरे से सम्बन्ध-विच्छेद किया।

भार्गवों की मुट्ठी-भर जाति के दो दल हो गए। धर्मशाला में आमने-सामने जाति की दो पंगत बैठीं। लड्डू, खीर, श्रीखंड, जलेबी और मठा का मज़ा लिया गया। एक-से-एक स्वादिष्ट मिठाइयाँ बनीं और उनकी प्रशंसा के पुल बाँधे गए। दोनों ने अपने को एक-दूसरे से बढ़कर दिखाने की चेष्टा की। फरसु भाई मुंशी की 'वाहवाह' हुई; अधुभाई साहब और माणक भाई मुंशी की पंगत भी संतोषप्रद रही।

कौन कहता है कि 'मोदकान् स्वादन्ते ब्राह्मणा' वेदवाक्य नहीं?

बड़ों से तो बड़े ही वैर साध सकते हैं।

: १७ :

भार्गवों की जाति में अनादि काल से चली आती हुई एक प्रथा थी—सभी बारातें भृगुभास्करेश्वर के मन्दिर के आगे से आया करती थीं; और जिस प्रकार किसान या जमींदार की ढेबी बोलती थी उसी प्रकार भार्गवों की भी बोलती थी। इसलिए जाति में होनेवाले सभी विवाह और जनेऊ लगभग एक ही मुहूर्त में होते थे। परिणाम यह होता था कि टीले और नए मंदिर के बीच आम रास्ते पर दो-तीन घण्टे में पूरी जाति की बारातें आती जाती थीं।

इस प्रथा के कारण एक बड़ा—बहुत ही बड़ा—प्रश्न प्रतिवर्ष खड़ा होता। बारातें नए मंदिर के आगे आमने-सामने मिलतीं। जो नए मंदिर की ओर से जाता वह निस्सन्देह बड़ा कहा जाता। जब यह बात थी तब ऐसा कौनसा भार्गव-जाया होगा जो रास्ते की इस ओर को छोड़कर दूसरी

ओर से जाता और किसीसे नीचा कहलाता। दो बकरे पहाड़ की सँकरी दरार में मिले थे और एक-दूसरे के ऊपर से निकल गए थे; परन्तु वे भार्गव नहीं थे! इसका परिणाम यह था कि मन्दिर की ओर से ही दो बारातें आमने-सामने आ जातीं। कोई किसीको न जाने देती और घण्टों तक मर्द, औरतें, घोड़े, गाड़ियाँ एक-दूसरे के सामने खड़े रह जाते—मानो दो भैंसे एक-दूसरे से सींग अड़ाए, समान शक्ति से ज़ोर लगाते हुए निश्चल हो गए हों। दोनों ओर से ढोल, नगाड़े और तुरहियाँ ज़ोर-शोर से बजती रहतीं। ऐसे खड़े-खड़े चार घण्टे तो मैंने बिताए हैं।

घण्टों तक करें क्या, इसकी तरकीब भी चतुर भार्गवों ने सोच ली थी। दोनों ओर के ढोल बजानेवाले आगे आते और ढोल की खाल पर बीच में हनुमान के चिकने सिंदूर से दवन्नी चिपकाई जाती। ढोल बजानेवाले ढोल के किनारे पर डंका मारकर टुम-टुम-टुम ढोल बजाते—नाद तरंग से दवन्नी सरकाने के लिए।

घण्टे-दो घण्टे में चिपटी हुई दवन्नी खिसकती-खिसकती ढोल के किनारे पर आती और वहाँ से गिर पड़ती। जिस दल के ढोल बजाने-वाले दवन्नी पहले गिराते, वही जीत जाता, जय-घोषणा होती और उसकी बारात नए मन्दिर की ओर से निकलती। सब प्रसन्नता से अपना-अपना मार्ग लेते।

यह हनुमान की दवन्नी का ही खेल नहीं था। इसके लिए ढोल कैसा चाहिए, सिन्दूर में कितनी चिकनाई चाहिए, टुम-टुम ढंग से होती है या नहीं, इन सब विषयों में निष्णात भार्गव जाति में थे, और मेलबोर्न क्रिकेट क्लब (M. c. c.) जितनी सावधानी से क्रिकेट के नियमों का निर्धारण करती है उतनी ही सावधानी से उसके भी नियम निर्धारित होते।

जाति में फूट पड़ी इसलिए इस प्रथा का आनन्द जाता रहा और वैर-भाव आया। दो दलों की बारातें संध्या के पाँच बजे नए मन्दिर के आगे

इकट्ठी हुई—आमने-सामने पड़ीं—रुककर खड़ी हुई। एक ने फरसु मुन्शी से कहलाया, दूसरी ने अधुभाई साहब से। दोनों कपड़े पहनकर बाहर आये, अपने प्रमुख सहयोगियों को बुलाया। अपने दल के लोगों में जाकर खड़े होगए। ढोलवालों को वर्दी देने का वचन दिया गया। दो ढोलवाले बीच में आये। दोनों ओर के 'हनुमान की दवन्नी' के शास्त्र-विशारद मदद के लिए आये। दवन्नी चिपकाई गई—ढुम-ढुम-ढुम शुरू हुई। लोग झुण्ड बनाकर देखने लगे। दूसरी जाति के लोग भी देखने आये। थकी हुई स्त्रियाँ चबूतरे पर बैठीं। टीले से पट्टे लाये गए और रास्ते के बीच में उन पर प्रमुख जन बैठे। दो प्रतिपक्षी बालक वरराजा, मस्तक-से-मस्तक मिलाये, आमने-सामने खड़े घोड़ों पर दुखती कमर से बैठे रहे।···रात होने को आई परन्तु ढुम-ढुम बन्द नहीं हुई। अधिक देर होने पर घर से गरम दूध आया, बाज़ार से मगद के लड्डू आये और रास्ते पर खड़े बारातियों ने क्षुधा-तृप्त की। ढोलवालों को पगड़ी-पर-पगड़ी दी गई और ढुम-ढुम होती रही।

आधी रात हुई। एक दवन्नी गिरी। "बेईमानी है! बेईमानी है! नहीं मानेंगे!" निष्णातों में मतभेद हुआ। दूसरी दवन्नियाँ आईं, दूसरे ढोलों पर चिपकाई गईं। ढोलवालों के लिए बज़ाज़ों की दूकान खुलवाकर नई पगड़ियाँ मँगाई गईं। समस्त भार्गव देखने के लिए जुड़े। ढुम-ढुम-ढुम की एक-सी ध्वनि व्योम के उस पार नक्षत्रों में सुनाई दी। सवेरा होने को आ गया, लेकिन वही दृढ़ता, वही न्यायात्पथं प्रविचलन्ति पदं न धीराः भीष्म संकल्प— वही ढुम-ढुम-ढुम! केवल वर राजाओं के घोड़े चार पैरों से खड़े-खड़े सो रहे थे। वर राजा झोका खाकर गिर न जायँ, इसलिए सगे-सम्बन्धी उन्हें सहारा देते थे। कोई हिला तक नहीं। किसीका हिलने का विचार तक न था। दातुनें की गईं, चाय पी गई, ढोल फूटे और नये आये! उदय होते सूर्यनारायण नये मन्दिर के प्रांगण में ढुम-ढुम-ढुम का नाद सुनकर विस्मित हुए। ये भार्गव नहीं, इसलिए इसका रहस्य कहाँ से समझ सकते हैं!

सवेरे फैज़ामियाँ काका आये। वे फौजदार थे। साथ में पुलिस के आदमी थे। "फरसु भाई! अधुभाई साहब! यह क्या? बहुत होगया।" "अरे, जो मैं यहाँ से हटूँ तो मूँछ मुड़ा डालूँ!" "अरे, जो मैं हटूँ तो नरभेराम मुन्शी का लड़का नहीं!" प्रतिपक्षी कहते—"मर भले ही जायँ पर हटेंगे नहीं!" मानो यह हल्दीघाटी का युद्ध था!

सवेरे फैज़ामियाँ ने हाथ में चाबुक लिया और इससे पहले कि किसीको मालूम पड़े वर राजाओं के दोनों घोड़ों में एक-एक फटकारा। एक उछलकर इस ओर मुड़ा और दूसरा उछलकर दूसरी ओर। हो-हल्ला मचा। टुमटुम रुका। स्त्रियाँ सभी घबरा गईं। "सा......बंडा!" फैज़ामियाँ ने गालियाँ खाईं। "मैं तो बंडा हूँ ही। उसमें नया क्या है?" उसने हँसकर कहा।

लेकिन घोड़े एक-दूसरे को पार कर गए और इस प्रकार दोनों की टेक रह गई। बारातें अपने-अपने रास्ते गईं। दोनों दलों ने अपनी विजय मान ली।

गत युग के लोग अभिमान और पाखण्ड में कैसे थे, इसकी कल्पना करने बैठें तो आज तो वह भी असमर्थ हो जायगी!

दूसरा खण्ड

बाल्यकाल

: १ :

मैं क्या कर रहा हूँ, इसका चित्र मेरे सामने उपस्थित होता है।

मैं कुदाली और फावड़ा हाथ में लिये खड़ा हूँ। क्या उखाड़ूँ? क्या खोदूँ? क्या फेंक दूँ? जो कुछ खोजता हूँ, उस पर पैंतालीस वर्ष के अनुभवों का ढेर जमा है, परन्तु उसे खोजे बिना छुटकारा नहीं।

मैं फावड़ा लेता हूँ, ज़ोर से पकड़ता हूँ, ऊँचा करता हूँ। सबसे ऊपर पड़ा है—यरवदा सेंट्रल जेल में घूमता 'Security Prisoner': 'a person known as K. M. Munshi'—'के० एम० मुन्शी नाम से पुकारा जानेवाला एक मनुष्य।' मैं उसे फावड़े से एक सपाटे में दूर फेंक देता हूँ।

उसके नीचे मिलता है—H. M. H. D. लाल पोशाक पहने हुए चपरासियों से संवृत्त, पुलिस गार्ड्स की सलामी लेता, बम्बई सरकार का गृहमंत्री, Honourable the Minister of Home and Legal Departments.

फिर कुदाली लेता हूँ और ज़ोर से खोदता हूँ। बीजापुर जेल के क़ैदी नम्बर ६०८६ का भूरी धारीवाले चारखाने के कपड़ों से युक्त शरीर दिखाई पड़ता है।......क़ैदी मुन्शी को मैं दूर फेंकता हूँ।

मुझे दिखाई देता है—जयजयकार से महकता हुआ देशभक्त मुन्शी।

एक झपाटा और यह गया ! उसकी खादी की धोती फरफराती है और सफ़ेद चप्पलें दूर जा गिरती हैं।

फिर कुदाली लेता हूँ और पसीना पोंछकर काम में लगता हूँ। ये चले मुन्शीजी—विद्वान् श्री मुन्शी, चारों ओर पुस्तकें बिखेरते हुए।

क़ब्र खोदनेवाले पूर्वजों का जोश मेरी बाँहों में आता है। मैं खोदता ही जाता हूँ। ये चले मिस्टर मुन्शी, मानो 'एस्कवीथ लॉर्ड' के कपड़े का विज्ञापन हो, साथ ही 'My learned friend' बिफ्रों का ढेर हाथ में रखने का विफल प्रयत्न करते हुए।

फट, फट, फट·······और उड़ा ! The Honourable Member for the University of Bombay······फट·······और 'टॉमस कुक' का यात्री 'मोस्यू मूस्की'········फट, फट·······और मुन्शी भाई तथा पिताजी—और प्रेमी हृदयों द्वारा प्रदत्त रसमय नाम का धनी। जाओ, दूर जाओ।

चारों ओर धूल उड़ती है। ढेर छोटा होता जाता है। मैं पसीना पोंछता हूँ और कुदाली टेककर अपना पराक्रम देखता हूँ।

ढेर के नीचे सात वर्ष का लड़का दिखाई देता है—कमर में कोंधनी, हाथ में सोने के कड़े, कान में मोती की बाली, सूखा-सा, गम्भीर और लाड़ला—सूरत में बड़े मन्दिर के घर के चौक में तीर कमान से खेलता हुआ·········

हां, खोजने पर मिला यह; कनुभाई आखिर पकड़ा ही गया !

: २ :

१६१३ तक मैं कनुभाई था—माँ-बाप का, नाते-रिश्तेदारों का, जाति का, गाँव में मुझे जो पहचानते थे उनका, मास्टरों का, बड़ौदा कालेज के सहपाठियों तथा प्रोफेसरों का। कितनी ही बार घर के लाड में मुझे 'भाई'

कहते और माताजी तथा पिताजी गुस्से में 'कनु' कहते, लेकिन यह अपवाद था।

आज मुझे इसका भी विचार करना पड़ता है कि यह कनुभाई कौन है। आज तक बहुतों को मेरे पूरे नाम की भी खबर नहीं है। कई बार पत्र आते—'कनुभाई, भड़ौंच' के पते पर। शेक्सपियर भले ही यह कहे कि नाम में क्या है? मैं कनुभाई न होता तो और क्या होता? कुछ नहीं।

मैं अपने पिताजी के साथ रहता था। मेरी माताजी भड़ौंच रहतीं, परन्तु इसकी मुझे अधिक चिन्ता नहीं थी। पिताजी से मुझे बहुत डर लगता था तो भी वे मुझे बहुत प्रिय थे। रात को हम साथ-साथ सोते थे और जब रात को डर लगता था तो मुझे उनसे चिपटकर सोने से हिम्मत आती थी।

मेरा यह विश्वास था कि वे सबसे बड़े और प्रतापी व्यक्ति थे और वे ऐसे हैं, यह अनुभव करके मुझे बड़ा गर्व होता था। हम साथ उठकर चाय पीते थे। जब चाय पीते थे तब मैं अपने को बड़ी उम्र का आदमी समझकर उनकी ही तरह चाय पीता था।

१८९६–९७ में सूरत में हाउसटैक्स के सम्बन्ध में बड़ी उथल-पुथल मची थी। कलक्टर फ्रेडरिक लेली, स्व० नन्दशंकर तुलजाशंकर और पिताजी इन तीन व्यक्तियों पर म्यूनिसिपैलिटी का कार्यभार था। जहां तक मुझे याद है, पिताजी मैनेजिंग कमेटी के अध्यक्ष थे और घरों की जाँच-पड़ताल करके आँकड़े लेने का काम उनका ही था। सवेरे नक्शा और फीता लेकर मुन्शी आते और हम—मैं भी अपने को हाउसटैक्स के लिए उत्तरदायी समझता था—घरों की पैमायश करने जाते।

हम जाते तो घर के मालिक हमारे आगे चाय और पान रखते। अपने घर की खराबी का रोना रोते, हिसाब बताते और इस बात का विश्वास दिलाते कि हबक से रँगी हुई दीवारें कच्ची हैं। मुन्शी घर की पैमायश

करते, पिताजी हिसाब करते और हम गाड़ी में बैठकर दूसरे घर जाते।

लोग गरीबी की बातें करते और कभी-कभी आँखों में आँसू भरकर अनुनय-विनय भी करते। यह देखकर मेरी आँखों में भी आँसू आ जाते। कभी-कभी मैं गाड़ी में डरते-डरते पिताजी से कहता—'इसे जाने दो; यह बेचारा बड़ा भला है।'

पिताजी हँसते हुए जवाब देते—'तू क्या जाने? यह तो यों ही ढोंग करता है।' उस समय मुझे यह ख्याल आ जाता कि पिताजी बड़े कठोर हृदय के हैं।

इसके बाद हम घर आकर खाना खाते; पिताजी कचहरी में जाते और घेलो नायक मुझे सुला देता। इस आदमी में बालकों को बहलाने की स्त्रियों-जैसी शक्ति थी और इसे मैं अपनी मल्कियत समझता था। वह कहानियाँ भी अच्छी कहता था।

दोपहर को मास्टर आता। मुझे गिनती-पहाड़े तो अच्छे नहीं लगते थे पर लिखने-पढ़ने का शौक था। इसलिए पढ़ने में मैं बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा था। शाम को नायक के साथ मैं पिताजी को बुलाने जाता। क़िले में नदी की ओर के एक खण्ड में वे बैठते थे। मैं भी उनके पास ही एक कुरसी पर जा बैठता और ऐसा मस्त हो जाता जैसे सब-कुछ मेरे ही कहने से हो रहा हो।

शाम को हम साथ-साथ घर आते और पिताजी मुझे 'Reading without Tears' नाम की पुस्तक में से अँग्रेजी पढ़ाते। पुत्र को सिविलियन बनाने की उनकी इच्छा थी, इसलिए बचपन से ही उसे तैयार कर रहे थे। कभी-कभी पिताजी खाने के बाद रात को तबला बजाते और धीमे स्वर से गाते। बहनों के वैधव्य के बाद उन्होंने वह छोड़ दिया और तबलों का धनी मैं बना। तबले के साथ रटे हुए 'बत्तीस एकम बत्तीस' मुझे अब तक याद हैं।

हमारी जाति का एक घड़ीसाज़ था। मैं उसके यहाँ अक्सर जाया करता था। एक दिन उसने मुझे इत्र की एक सुन्दर शीशी दी। मैं खुश होता हुआ उसे लेकर घर आया और इस डर से कि कहीं पिताजी नाराज़ न हों, उसे छिपा दिया। इत्र की शीशी के बाद इत्र के लिए मन चला। घर में तो इत्र था नहीं। अब आवे कहाँ से? पास में पैसे भी नहीं थे। मैंने एक तरकीब सोची। पिताजी हर महीने की पहली तारीख को उस महीने में जितने दिन होते थे उतने पैसे एक कागज के खोखे में बन्द करके रख देते थे और मैं हर रोज़ शाम को उनमें से एक पैसा लेकर पास के हल-वाई की दुकान से एक ताज़ा पेड़ा ले आता था। दूकानदार भी 'रायसाहब' के लड़के के लिए ज़रा मोटा पेड़ा तैयार रखता था। तीन दिन मैंने पेड़ा खाना छोड़ दिया और पैसों का संग्रह किया और एक दिन जब नौकर के साथ घूमने गया तो उन पैसों का इत्र लिया।

रात को पिताजी तबला बजा रहे थे और मैं इत्र की सुगन्ध से झूम रहा था। इतने में घेलो नायक मुँह लटकाए हुए आया और पिताजी के पास जाकर धीरे-से बोला—'साहब, मुझे एक बात कहनी है।'

मेरी जान निकल गई।

'क्या है?' पिताजी ने पूछा।

'आज भाई इत्र ले आए हैं।' मैं थर-थर काँपने लगा।

'इत्र? कहाँ से आया? कहाँ है?'

मैंने चुपचाप शीशी रख दी और रो पड़ा। शीशी और इत्र दोनों ज़ब्त हो गए।

यदि मैं यह कहूँ कि मैं खेला ही नहीं तो ठीक रहेगा, क्योंकि न तो मेरे साथ कोई खेलनेवाला था और न मेरा स्वभाव ही खिलाड़ी था। एक पड़ोसी की समवयस्क लड़की कभी-कभी आती थी पर खेलने की जगह हम बातें किया करते थे।

मैं 'Funny little boy' था। मैं सारे दिन अरेबियन नाइट्स पढ़ा करता और बोलती मछली, पर्वत में पड़े हीरे तथा उड़ते घोड़े का विचार किया करता। मैं इस बात की प्रतीक्षा किया करता था कि गरुड़ मुझे डमास्कस के द्वार पर ले जाय, उसकी किवाड़ें खुलें और पहला होने के कारण मुझे ही सुलतान बनाकर शाहजादी के साथ मेरी शादी कर दी जाय।

पिताजी ने मुझे रेल के गार्ड की-सी छोटी लालटेन दीला दी थी। एक दिन मैंने सपना देखा कि यह लालटेन तिलस्मी है। पिताजी कचहरी चले गए तो मैं चुपचाप एक कमरे में घुसकर अपनी अँगुली की माणिक की अँगूठी को लालटेन पर घिसने लगा। मुझे विश्वास था देव आवेगा और मैं उससे हीरे-मोती माँगूंगा; शाम को पिताजी के आने पर मैं सब-कुछ उन्हें दे दूँगा। फिर उन्हें नौकरी करने नहीं जाना पड़ेगा। और फिर सूरत के सारे घरों को मैं खरीद लूँगा। घिसते-घिसते रिबट टूट गई और माणिक निकल पड़ा। शाम को जब पिताजी को पता चला तो गुस्सा होने के बदले वे हँसे। मुझे वह अपना अपमान जान पड़ा।

मुझे तो विश्वास था कि देव आता तो मैं पैसे लाकर पिताजी को देता। अलाउद्दीन के काम में लगा होने से देव नहीं आया था पिताजी के हँसने से नाराज होकर लौट गया—केवल इतना संशय बना रहा।

: ३ :

सन् १८९६ या ९७ में अधुभाई काका की चिट्ठी लेकर बाँकानेरी साफा तथा विचित्र उच्चारण द्वारा आकर्षक बने हुए तीन काठियावाड़ी गृहस्थ हमारे यहाँ मेहमान के रूप में आये। बाद में इनमें दो 'बड़े' त्र्यंबक और एक 'छोटे' त्र्यंबक के नाम से विख्यात हुए थे। 'मोरबी आर्य सुबोध नाटक मण्डली' से अलग होकर दोनों त्र्यंबकों ने 'बांकानेर आर्य-हितवर्द्धक मण्डली' की स्थापना

की थी। इस मण्डली को सूरत आना था इसलिए ये तीनों तहसीलदार की मदद लेने के लिए सूरत आये थे।

इससे पहले मेरा नाटक का अनुभव नहीं के बराबर था । दो-तीन वर्ष पहले भड़ौंच में एक नाटक मण्डली आई थी । इस मण्डली ने अधुभाई काका के यहाँ से सोफा और कुरसी लेकर और रंगीन धोतियों के पर्दे डालकर पंचायती धर्मशाला में 'ललिता दुःखदर्शक' नाटक खेला था, इसकी मुझे धुंधली-सी याद थी। वर्ष भर पहले मैं भड़ौंच में मोरबी के नाटक देखने गया था । काठियावाड़ी ढंग के राजवंशीय जीवन को रंगभूमि पर उतारकर उसके मालिक मूलजी आशाराम ने गुजराती रंगमंच की नींव डाली थी। गाँव-गाँव में लड़के 'डर मां तुं दिल साथ, छोकरा, डर माँ तुं दिल साथ' (तू दिल में मत डर लड़के तू दिल में मत डर) गाते फिरते थे। बहुत-से युवकों को 'थया छोरे पति तेज प्याकी तनना डर हसी वरी आजे' (जिसने तुम्हें हँस कर हृदय से वरण किया था उसीके तन के तुम आज स्वामी हुए हो) में आनन्द की पराकाष्ठा दिखाई देती थी। मैंने पहला खेल इस मण्डली का जो देखा वह था 'रा खेंगार और राणक देवी।' इस खेल में जब सिद्धराज राणकदेवी के दो लड़कों को मार डालता है तब के दृश्य को देखकर मैं अपनी कुरसी पर पीछे को मुंह करके रोता था, यह मुझे अब तक याद है। यह कमजोरी आज तक बनी है। रंगमंच पर या चलचित्र में जब मैं कोई भावमय दृश्य देखता हूँ या साहित्य में किसी मार्मिक प्रसंग का चित्रण करने बैठता हूँ, तो मेरी आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं।

बाँकानेरी मण्डली रस की गंगा घर ले आई । त्र्यंबकों से जान-पहचान हुई। उसके बाद कई दिन तक मैं अपने को भूला रहा।

त्र्यंबक तो चले गए पर तीसरा गृहस्थ घर रह गया। चौक बाज़ार की सड़क पर एक जगह ली गई; टीन की नाटकशाला बनाई गई । काम किस प्रकार चलता है, यह देखने के लिए मैं रोज जाता और हर्षित होता ।

मण्डली आई, पर्दे टाँगे गए, दीवारें रंगवाई गईं। सुबह-शाम मैं नाटकशाला से घर और घर से नाटकशाला दौड़ता । बड़े त्र्यंबक का मेरी उम्र का लड़का शंकरलाल मेरा मित्र हो गया । वह लगभग रोज़ घर आता था । वह कंपनी का पार्ट करने वाला था, इसलिए पाउडर कैसे लगाया जाय, लहँगा कैसे पहना जाय, बनावटी बाल कैसे बांधे जायँ, ये सब बातें मुझे सिखाता था । जिस समय कोई नहीं होता था उस समय कमरे में घुसकर शीशे के सामने कमर पर हाथ रखकर मैं कुछ-कुछ नाचने भी लगा था ।

देवदार के बुरादे की गंध, रंग और पाउडर की वास और धोती का कछोटा मारे हुए, चूड़ी पहनते हुए, काजल लगी आंखों और रंगे हुए होठों वाले, गोरे मुख और हाथ वाले होने पर भी काले शरीर के अद्भुत मनुष्य—जो गुजराती रंगमंच के पर्दे के पीछे ही देखने को मिलते थे, मेरे प्राणों के साथ एकाकार हो गए। मैं उनके दर्शन और परिचय में ही आनन्द अनुभव करने लगा ।

अन्त में सब कुछ तैयार हुआ और 'सीता स्वयंवर' का नया खेल आरम्भ हुआ । हम बाप-बेटे प्रेक्षक वर्ग के बीच में बैठे। मेरा मन अन्दर जाने के लिए बहुत हुआ, पर पिताजी जाने देते तब न ?

नाटक का पर्दा उठा और मैं पहली बार नाटक देखने में ऐसा तन्मय हो गया जैसे नरसी मेहता राधा-कृष्ण का नाच देखने में तन्मय हो गए थे ।

जनक राजा की कचहरी आई। 'छोटा' त्र्यंबक परशुराम के रूप में आया । उसने जटाएँ धारण की थीं; कंधे पर और हाथ में परशु था और वह पीताम्बर पहने था ।

त्र्यंबक संग ले घूमता, जपता प्रभु का नाम ।
मन में यह आया मैं चलूँ आज जनक के धाम ॥

मेरी माँ ने पुराणों की कथाओं से मेरा मस्तिष्क भर दिया था, इसलिए

भृगु पूर्वजों के पराक्रम मन के आगे घूमते रहते थे । इस समय तो मैंने भगवान जमदग्नि को साक्षात देखा ।

उसके पश्चात् विश्वामित्र आये; राम, लक्ष्मण और जानकी आये । विदूषक विद्या-प्रवीण बड़ा त्र्यंबक देखा । कल्पना के आनन्द में लीन मैं घर आया । दूसरे दिन से मैंने पढ़ना छोड़ दिया और अरेबियन नाइट्स को उठाकर रख दिया । मेरे पास क्रिकेट का एक छोटा-सा बल्ला था । उस पर बरक चिपटाकर परशु तैयार किया गया । त्र्यंबक तो था ही । बाज़ार से खड़ाऊँ आई और मैं परशुराम बन गया । पिताजी जमदग्नि के समान थे और माँ रेणुका के समान । और सब भी मौजूद थे । बिस्तर से उठते ही मैं इस बात की तलाश करता कि पैरों को ओर कर्ण बैठा है अथवा भीष्म; और उससे मैं चाय लाने के लिए कहता । नहाने का पानी रखने वाले नौकर को भी मैं एक शिष्य ही समझता था । मेरी बूआ का लड़का ओच्छव भाई घर में रहता था । वह भी मानो मेरा एक बड़ा शिष्य था । मज़ा यह था कि यह सब मैं अकेला ही समझता था, किसी से कहता नहीं था ।

'सीता स्वयंवर' के प्रत्येक खेल में मैं जाता और परशुराम को देखकर वापस लौटता । एक दिन पिताजी को शक हुआ कि इस लड़के को नाटक का चस्का लग गया है । शंकरलाल का घर आना बन्द हुआ । हुक्म हुआ कि मैं शनिवार को छोड़कर और किसी दिन नाटकशाला में नहीं जा सकता । बहुत-कुछ कहने पर भी मुझे भूले-भटके भी चौक बाज़ार की ओर कोई नहीं ले जाता था ।

दूसरा नाटक 'प्रेमचन्द्रिका' खेला गया । उस समय नायक बारह वर्ष का लड़का था और नायिका थी आठ वर्ष की लड़की । वे प्रेम का ऐसा संवाद करते थे, जो उन्हें मुश्किल पड़ता था ।

"विजयसिंह—प्रिये प्राण तुम्हारे ऊपर वारी !

प्रभा—शोभित है मुख कान्ति तुम्हारी सुन्दर प्यारी ।

विजयसिंह—प्रभा ! मुझे तुमसे मिली, सुखद विजय इस बार ।

प्रभा—उमड़ रहा आनन्द उर मेरे जीवन हार !"

प्रेम, अभिनय और संवाद के इस प्रथम पाठ से मेरा हृदय उमंगपूर्ण हो गया । कुछ समय के लिए परशुराम दूर चले गए । एक प्रभा ने मेरे हृदय में घर किया । पिताजी कोर्ट में जाते अथवा बैठक में होते तो मैं और मेरी प्रभा दोपहरी-भर आनन्द का अनुभव करते रहते । शाम को वह मेरे साथ घूमने आती । प्रभा के बोल भी मुझे ही बोलने पड़ते थे, लेकिन इसका मुझे कोई ख्याल न था । इस काल्पनिक सहचरी के आने से मैंने अपने एक सच्चे मित्र को भी भुला दिया ।

बचपन के देखे हुए ये दो दृश्य और सुनी हुई ये पंक्तियाँ जीवन के तार-तार से लिपट गई हैं और हजारों सजीव प्रसंगों के गर्भ में व्याप्त हैं । आज भी उनकी प्रेरणा आती हुई वृद्धावस्था की छायाओं को नष्ट कर देती है ।

तब से मुझे नाटक खेलने का शौक लगा । भड़ौंच पहुंचते ही मेरी नाटक मण्डली तैयार हो जाती थी ।

एक काका को लकवा मार गया था । वे उठने में असमर्थ थे और खाट पर ही पड़े रहते थे । उनका पुत्र मोती भाई बड़े उत्साह से मेरी नाटक-मंडली में सम्मिलित हो गया । वृद्ध काका क्रोध से चिल्लाते—"कनुड़िया ! नाटकी ! मेरे लड़के को भगाने बैठा है !"

मोती भाई और मैं अपनी नाटक-मण्डली के पहले खिलाड़ी थे । हमारा रंगमंच दो दरवाजों के बीच का दालान था । पोशाक के लिए बेकार पड़े कपड़े और शस्त्रों के लिए बैट-स्टम्प्स और लकड़ी का प्रयोग होता था । प्रेक्षकगण थे नाते-रिश्तेदार और मेरा मुख्य नाटक, जो मैंने ही जोड़-

जाड़ लिया था, 'परशुराम का क्षत्रिय-हनन' था। मैं बैट को कन्धे पर रख कर रोज रात को 'क्षत्रिय-हनन' करता रहता था।

बाप के वचन मोती भाई के लिए अभिशाप सिद्ध हुए। नाटक को छोड़-कर अन्य किसी विषय में भी उस पर मेरा प्रभाव नहीं पड़ा। उसके जीवन को सुधारने के मेरे समस्त प्रयत्न व्यर्थ गए। अनेक वर्ष हो गए, परेशान होकर वह इस लोक को छोड़कर चला गया।

: ४ :

इस बीच में हम भड़ौंच गये थे, इसकी मुझे कुछ-कुछ याद है।

पिताजी और माताजी बैठे होते और कोई रिश्तेदार छोटी-सी लड़की ले आता। वह जाता और लड़की के रूप-गुण की चर्चा शुरू हो जाती। मैं सुनता रहता—रस के साथ या और किसी प्रकार, यह नहीं कहा जा सकता। मेरे लिए बहू की तलाश हो रही थी।

एक की आँखें बड़ी, दूसरी का रंग काला, तीसरी की दादी के चरित्र में दोष और चौथी का कुल नीचा। ऐसे करते-करते अन्त में मेरे लिए चार वर्ष की बहू आई। गुड़िया-सी बहू को थोड़े दिन के लिए सूरत भी ले आया गया। यह तो याद नहीं है कि मेरा मन हर्षित हुआ था या नहीं, परन्तु यह अवश्य है कि एक बार मैं गन्ने के टुकड़े करके बहू को दे आया था। मेरे बड़े होने पर भी सब लोग इस बात का मजाक उड़ाते थे।

मेरे यज्ञोपवीत का समय आया और माँ मुझे भड़ौंच ले आई। बड़ी दौड़-धूप के बाद उसने बेटे के लिए मल्कियत का हिस्सा दिलाया था। लड़कियों के वैधव्य के दुःख के कारण उसके हृदय में होली दहकती थी, परन्तु माँ उनको अनेक प्रकार के कामों में लगाकर सान्त्वना देने का प्रयत्न करती थी। अब एक ऐसा प्रसंग आया था, जिसकी अनेक वर्षों से आशा लगी हुई थी। वह अपने घर में अपने एकमात्र पुत्र के यज्ञोपवीत की तैयारी कर रही थी।

हिस्से में आई जमीनों और दस्तावेजों को संभाल लेना था, हिसाब तैयार कराना था, नए घर के लिए सामान जुटाना था, कोठे-अटारी के हिस्से होने थे और यज्ञोपवीत संस्कार पर होनेवाले कार्यों का निश्चय करना था।

इन सब कामों से मां की व्यवस्था-शक्ति को विकास का अवसर मिला। जब से पिताजी बारह रुपये की नौकरी करने गये थे तब से उसने स्वयं बनाई हुई छोटी-छोटी कापियों में पेंसिल से रोजनामचा और खाता-बही तैयार किए थे। वह प्रतिमास और प्रतिवर्ष आय-व्यय का हिसाब लगाती रहती थी। दस्तावेजों तथा कपड़ों और जन्म-पत्रियों के दफ्तर अलग-अलग थे। रोज का दफ्तर और पानदान—ये दो तो सदा ही साथ रहते थे।

मां सदा कुछ-न-कुछ लिखा करती। उसने प्रेमानन्द के काव्यों को स्वयं अपने हाथ से लिखा। नहाने के समय बोले जानेवाले 'रामस्तव-राजस्तोत्र' और दूसरे अष्टक भी लिखे। याददाश्त नुस्खे और हिसाब तो चलते ही रहते थे। पेंसिलों से चित्र भी बनाती थी। उमंग आने पर कविता भी लिखती थी। पिताजी अंग्रेजी कहते और मां उन्हें पहले पेंसिल से और फिर स्याही से लिख डालती। लेखनी—फिर वह पेंसिल हो, कलम हो या रंगीन पेंसिल—ही उसकी सहचरी थी। उसी सहचरी को—सदा की आश्वासनदायिनी और प्रेरणादायिनी सहचरी को—वह मुझे दे गयी।

इन सभी दफ्तरों का 'अन्तिम दफ्तर' मेरे हाथ में तब आया जब जीजी मां १९३६ में चल बसीं। उसमें उन्होंने अपने जीवन के प्रमुख प्रसंगों का संग्रह कर रखा था। आज भी इस 'अन्तिम दफ्तर' के कागज़ों को फाइल में लगाते समय माँ का जीवन सामने आ जाता है। उसके दुःख-सुख, उसका आत्ममंथन और लेखनी द्वारा आत्मा पर प्राप्त की हुई विजय, विशुद्ध बुद्धि और कर्तव्य-प्रेरणा से उत्पन्न अस्सी वर्ष की सहिष्णुता, क्षमा, औदार्य और संस्कार ये उसके जीवन की प्रमुख विशेषताएँ थीं।

समाज में आने के बाद माँ के साथ अकेले रहने का यह मेरा पहला

प्रसंग था । प्रत्येक वस्तु की सावधानी से व्यवस्था करना उसके जीवन का आनन्द था । यह व्यवस्था वह हुक्म, क्रोध, खलने वाले चिड़चिड़ेपन और ठप्पे से नहीं करती थी, वरन् सद्भावना के साथ समझाकर करती थी । उसकी देख-रेख में सबको काम करना अच्छा लगता था । कारण, उसमें काम लेने के अधिकार का अंशमात्र भी नहीं दिखाई देता था । ज़ोर की आवाज़ से किसीसे बोलना तो उसे आता ही नहीं था ।

जिस समय घर रंगा—गया उस समय अंबा नाम की एक काठियावाड़ की मज़दूरिन मज़दूरी करने आती थी । उसकी होशियारी से माँ खुश हो गई और अंबा को घर का सारा काम सौंप दिया । धीरे-धीरे अंबा और उसका पति सूखा मज़दूर न रहकर घर का अंग हो गए । अंबा मां के पैर पूजती थी । उससे माँ ने मज़दूरी की अपेक्षा खेती करने की बात कही और उसने हमारे भाग में आनेवाली ज़मीन जोत डाली ।

१८६७ से सूखा ने हमारी ज़मीन जोतना आरम्भ किया; परन्तु वह किसान न था, घर का आदमी था । जब चाहता, सहायता ले लेता; जब फसल होती तब देता, न होती तो रो देता । स्त्री गई, लड़का गया; पचहत्तर-अस्सी वर्ष का पुत्रहीन और झुकी हुई कमर का वृद्ध सूखा १६४० तक हमारे घर का आदमी है ।

माँ के पास कुटुम्ब बढ़ाने की रसायन थी । जो उसके सम्पर्क में आता वही परजन न रहकर स्वजन हो जाता । शान्त, हृदयद्रावक और सर्वग्राही स्नेह-ममता से माँ उसे लपेट लेती । वह उसकी सारी देखभाल करती और उसको सुखी करने के उपाय सोचती । अपनी शक्तियों के अनुसार उसे अधिक उपयोगी बनना सिखाती । साथ ही अपनी डायरी में से कथा, कहानी और चुटकुले सुनाती रहती ।

यदि कोई माँ का अपमान करता तो ऐसा लगता जैसे उसकी गर्दन काट दी गई हो । उस समय मुंशियों की भाँति अपमान करने वाले से बदला लेने

की उसकी भावना नहीं होती थी। उसकी आँख से केवल आँसू निकल पड़ते थे। साधारणतः उसका गौरव ऐसा था कि उसके सामने उसका अपमान करना कठिन होता था। रुखीबा ने माँ को अनेक बार 'मिठबोली' का जो प्रमाण-पत्र दिया था उसमें अधूरा सत्य था, क्योंकि माधुर्य केवल माँ की वाणी की ही विशेषता न थी, वरन् वह तो उसके स्वभाव का ही एक अंग था।

माँ का यह मिठबोलापन उनकी व्यावहारिक चतुराई के कारण नहीं था, प्रत्युत उसने अपने हृदय के स्वाभाविक माधुर्य को सतत अभ्यास से जो सर्वग्राही बना दिया था उसीका यह परिणाम था। बंटवारे के समय जो झगड़े हुए थे उनमें मुशियों की चित्रात्मक वाणी चारों ओर फूल बिखेरती थी। उस समय की एक घटना मां ने 'अन्तिम दफ्तर' में संग्रहीत कर रखी थी—

"चतुर आदमी वह है जो यदि ऐसा देखे कि किसीकी भी हानि नहीं है तो अपने आदमी को डाट-डपटकर लड़ाई बन्द करावे और विपक्षी के मन को प्रसन्न करे। इतने पर भी वह न माने तो हलका-सा उपाय करे। अभिमानी मनुष्य को उसकी प्रशंसा करके प्रसन्न करे। मूर्ख मनुष्य को तो उसकी हाँ-में-हाँ मिलाकर ही खुश कर ले। विद्वान व्यक्ति को तो जैसे हो वैसे सत्य बात कहकर प्रसन्न करने का नियम है, लेकिन फिर भी कभी-कभी वक्त देखकर बात करनी पड़ती है। ऐसा करते समय यह देखना चाहिए कि किसीको वैसा करने से कोई हानि तो नहीं है, क्योंकि ऐसा करना पाप समझा जाता है।"

माँ ने ये सूत्र किसीसे सीख कर नहीं लिखे थे। अपने जीवन में उसने यह कागज़ किसीको दिखाया हो, यह मैं नहीं जानता। ये तो उसके हृदय से निकले हुए थे। ये तो वाणी की तप-साधना वाले वे सूत्र हैं, जो उसने अपने लिए लिखे थे और जिनके आधार पर उसने अपना चरित्र गढ़ा था।

मुंशियों के गौरवपूर्ण, वाचाल और क्षिप्रकोपी स्वभाव को ऐसे माधुर्य के बिना कौन वश में कर सकता था! उसकी प्रेमदर्शी पुत्रवधू ने एक बार लिखा था—"जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य के प्रखर तेज को ग्रहण कर उसे अपने हृदय में रख लेता है और पृथ्वी पर अपनी शान्त ज्योत्स्ना प्रसारित करता है उसी प्रकार जीजी माँ मुंशियों की उग्रता को स्वयं लेकर परिवार को शान्ति देनेवाली मिठास ही देती थीं।"

उफनाती, अकुलाती, तपाती उमंगों के इस अभाव को मैं बचपन में प्रेम की न्यूनता समझता था। उमंगों से पूर्ण वाक्पटुता के बिना मुझे चैन नहीं पड़ता था। यह ख़याल कितना मूर्खतापूर्ण था, इसे मैं तब समझा जबकि मैं बड़ा हो गया।

माँ के स्वभाव का यह माधुर्य स्वभाव की कोरी सरलता से पैदा नहीं हुआ था। सामने वाले की अशक्ति और कठिनाई को सहृदयता से समझने की जो शक्ति उसमें थी उसी में इस सुमधुरता का मूल था।

वर्षों बाद एक छोटी दोहित्री ने लाक्षणिक दृष्टान्त दिया था—"एक दिन जीजी माँ अचार डालने बैठी थीं। उन्होंने मुझसे पास ही रखे काँच के अमृतवान को देने के लिए कहा। मैं अमृतवान लेने गई पर वह हाथ से गिरकर टूट गया। यह देखकर मैं रो पड़ी। कारण, मैं समझती थी कि जीजी माँ चिल्लायंगी। मैं रोती गई और काँच के टुकड़े बीनती गई। जीजी माँ आवाज सुनकर मेरे पास आई और मुझसे पूछा—'अमृतवान कैसे टूट गया?' मैंने कहा—'मैंने अमृतवान एक हाथ से पकड़ा था, इसलिए गिर पड़ा।' जीजी माँ ने यह सुनकर कहा—'अब रो मत। तुझसे भूल हुई है और तुझे उसका पश्चात्ताप भी है। कोई बात नहीं। अपने यहाँ दूसरा अमृतवान है।......' इतना कहकर जीजी माँ ने दूसरे अमृतवान में अचार डालना आरम्भ कर दिया।"[1]

---

१. रसिकवन्दना वकील—'जीजी मां'—फूलछाब (१९२६)

माँ ने देखते-देखते नई सृष्टि रच दी।

हवेली का अगला भाग बटवारे में हमारे हिस्से में आया था। उसकी मरम्मत हो रही थी। अस्सी वर्ष पहले के रंगों के परतों को खुरचकर हबक के भभकते रंग किये जा रहे थे। गलीचों, तकियों और हण्डों के पार्सल सूरत से आ रहे थे। पंडित और ज्योतिषी आते, मज़दूर दौड़-धूप करते, निमन्त्रण का चिट्ठा तैयार होता और चारों ओर हलचल दिखाई देती।

माणिकलाल मुंशी अपने एकमात्र पुत्र का यज्ञोपवीत करा रहे थे।

: ५ :

अभी महीने-भर की देर थी, इसलिए मुझे गुजराती की पाँचवीं कक्षा में पाठशाला भेजा गया। उसके मेहताजी तो मुझे अब तक याद हैं। वे दमा के मरीज़ थे और अच्छी-खासी अफीम खाते थे। मुझे उनकी एक बात अच्छी तरह याद है। शाम होने को आई, पर मास्टर साहब की अफीम नहीं उतरी और मास्टर साहब को लड़कों को पढ़ाने की फुरसत नहीं मिली। पाँच बजने को हुए और वे चौंककर उठे। लड़कों का नम्बर कैसे पूरा हो? उन्हें एकदम प्रेरणा हुई—

"लड़को!" वे गरजे, "खड़े हो जाओ।"

हम खड़े हो गए।

"बैठ जाओ।"

हम बैठ गए।

"तुममें से जो विवाहित हों वे खड़े हो जायँ।"

एक लड़का खड़ा हो गया।

"चल," उस लड़के को लक्ष्य कर गुरुवर्य ने कहा—"तू पहले आ।"

वह लड़का पहले नम्बर पर बैठा।

"अब," मास्टर ने कहा—"जिनकी सगाई हो गई हो वे खड़े हो जायँ।"

हममें से कुछ लड़के खड़े हो गए।

"चलो, तुम ऊपर आओ।" और बाकी बचे हुओं की ओर लाल-पीली आँखें करते हुए वे बोले—"और तुम—दुष्टो!—नीचे जाओ, बस आखिर में जाओ। उल्लुओं-जैसे इतने बड़े हो गए तो भी कोई लड़की देने वाला न मिला! नाम बोलो! आखिर में जाओ।"

बिना सगाईवाले लड़के सिर नीचा करके आखिर में गये और लड़कियाँ पाने की साखवाले भाग्यशाली हम उनकी ओर तिरस्कार से देखने लगे।

इन तीन महीनों में नये मन्दिर के चबूतरे पर एक कथावाचक पंडितजी महाभारत की कथा बाँचने बैठे। आज के युग ने कथावाचक पंडितों की कथा का आनन्द नहीं लिया, इसलिए वह उनके द्वारा की गई गुजराती साहित्य और संस्कृति की सेवा का मूल्यांकन नहीं कर सकता।

आठ या नौ बजे नये मंदिर के चबूतरे पर दो शिष्य आकर गद्दी और तकिया रखते और मँजीरा बजाकर गाने लगते। धीरे-धीरे लोग इकट्ठे होने लगते। टीले और नये मंदिर के रास्ते के बीच भीड़ इकट्ठी हो जाती, खिड़कियां नाट्यगृह के 'बॉक्स' बन जातीं और वहाँ बड़े आदमियों के घर वाले आकर बैठते। टीले के आगे वाले घर में हम आकर बैठते।

बाद में पंडितजी आते, 'जै-जै' होती और आदितराम पंडित अँगूठी वाली अँगुली से नांदी आरम्भ करते—

नमो गणेश नमो हनुमन्ता,
एक मांगता धोती जोड़ा,
और दूसरा वस्त्र कछोटा,
एक चाहता लड्डू भारी,
और दूसरा गुड़ की गाड़ी।

श्रोतागण एकाग्रचित्त से महाभारत की कथा सुनते, अर्जुन के पराक्रम

से उल्लसित होते, भीम के पागलपन पर हँसते, द्रौपदी के दुःख पर आँसू बहाते। बीच-बीच में पंडितजी चुटकुले कहते; अधबीच में रुकते और दूसरे दिन का न्यौता ठीक करते; खिलानेवाले, न्योता देनेवाले और भोजन के विषय में भी कुछ जोड़ देते।

इन कथाओं में मैं इतना मस्त हो जाता कि रस-प्रवाह में तनिक भी स्खलन होते देख मैं बिगड़ पड़ता। लेकिन नए मंदिर के आगे बैठने वाले भार्गव और मूर्ख लड़के मेरे नाराज होने की चिन्ता किये बिना अपने कर्तव्य में लीन रहते।

इन दिनों भड़ौंच के कुम्हार शाम के वक्त अपने गधों को शहरियों के अवशिष्ट अन्न का स्वाद लेने के लिए गलियों में घूमने भेज देते थे। बहुत-से युवक बड़ी सरलता से दो-चार गधों को किसीके तबेले में या किसी तंग गली में बन्द कर सकते थे। रात के ग्यारह-बारह बजे जब कथा पूरे जोर पर होती और लोग तन्मय होते तब ये गधे छोड़ जाते और लोगों को होश आने से पहले ही ये चारों पैरों से भीड़ में उछलते नजर आते। लोग उठकर दौड़ते, गालियों की बौछार होती, कथा में विघ्न पड़ता और जब पाव या आध घण्टे में लोग निर्भय हो जाते तब कथा फिर आरम्भ होती।

इस पराक्रम को करनेवाले महारथियों को महाभारत की चिन्ता न थी और न बड़ों के क्रोध का भय था। कथा में गधे छोड़ना पराक्रम समझा जाता था—जनरल बिल्व के अमेरिका में विमान-दल ले जाने से भी बड़ा। स्कूल में मैं ऐसे पराक्रमों के प्रति अरुचि प्रकट करता था, इस कारण मेरी कक्षा के लड़के मुझे तुच्छ और तिरस्करणीय समझने लगे थे, यह बात मुझे अब भी याद है।

पण्डित आदितराम अच्छे कथावाचक थे। बात कहने का उनका ढंग अद्भुत था। जब वे चुटकुले कहते तब हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते। जब वे आलाप लेते तो मेरी नसों में अंगारे दहकने लगते। माँ की कहानियों

ने मुझे जिस पौराणिक सृष्टि का परिचय कराया था उसमें पण्डित आदितराम मुझे रोज ले जाते ।

मैं भटकता हुआ भीम के साथ महारुद्र को पानी से डुबोकर वरदान लेता । लाख-गृह से सब निकल जाते परन्तु मैं अकेला वहां फंस जाता—अग्नि की लपटों में झुलसता हुआ । द्रुपदतनया कर्ण को दासी-पुत्र कहकर जब उससे विवाह करने से इन्कार करती तब उसे आश्वासन देने के लिए अकेला मैं ही खड़ा रहता था । लेकिन सबसे छोटे त्र्यंबक के वेश में परशुराम तो बुलाए-बिना बुलाए उपस्थित ही रहता था । इस प्रकार इस कथावाचक पण्डित के बाजे के साथ मैं अपने रक्त में व्याप्त ब्राह्मणत्व को सजीव करने लगा ।

जैसे-जैसे यज्ञोपवीत का दिन पास आने लगा वैसे-वैसे मैं ब्राह्मणत्व की महत्ता में निमग्न होने लगा । मुझे ऐसा क्षोभ होता जैसे मैं किसी महासागर को तरने के लिए कटिबद्ध किनारे पर खड़ा होऊं । क्या मैं भृगु, परशुराम, वशिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास की कोटि में आकर वैसा बन सकूंगा? यह भयंकर संशय मेरे छोटे-से हृदय को दिन-रात कँपाने लगा ।

अन्त में पिताजी आये; अधुभाई काका भी आये; द्वार पर नौबत बजने लगी; मुन्शी के टीले पर चंदोवा ताना गया; बैठक में हण्डे जलाये गए; गणेश की स्थापना हुई; गृहशांति हुई; सन्ध्या और प्रभाती गाये जाने लगे ।

यज्ञोपवीत धारण करके मैं पूर्णरूप से दैवी बन जाऊंगा, इस विषय में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं था । कहीं ऐसा न हो कि किसी विधि में कोई कमी रह जाय, इसलिए मैं पण्डितजी से सब कुछ विस्तार से पूछता और जैसे वे कहते वैसे करता । हमारे पंडितजी वेद-शास्त्र-निष्णात थे और साथ ही कर्मकाण्ड में कुशल भी । यदि दस यजमानों के यहां एक साथ ही कोई काम होता तो भी वे संभाल सकते थे । जितना ध्यान मैं पेन में स्याही

भरते समय रखता हूँ उतना भी वे यज्ञोपवीत देते समय रखते होंगे, इसमें मुझे सन्देह है। लेकिन उन्हें भी साठ वर्ष की उम्र में मेरे जैसा दीक्षाभिलाषी शिष्य न मिला होगा।

मैं हाथ में यज्ञोपवीत लेकर बड़ों की आज्ञा लेने उठा तो मेरी आंखों में आंसू थे और हाथ में कम्प। परन्तु यह बात मुझे स्पष्ट जान पड़ी कि मेरे पूर्वज मेरी सहायता कर रहे थे।

"पिताजी, यज्ञोपवीत पहनूं?"

"हां बेटा।"

मैंने यज्ञोपवीत पहना, नौबत बजी, गीत गाये गए और मैं ब्रह्मचारी हो गया। सात दिन 'भवति भिक्षां देहि' कहकर मैं सगे-सम्बन्धियों के यहां से बर्तन और चावल ले आया। मेरे साथ ब्रह्मचारी बनने वाले एक दूसरे को 'भैंसचारी' कहकर सम्बोधित करते और सभी नियमों को तोड़ने में आनन्द लेते। लेकिन मैं तो अपनी गम्भीरता में डूबा हुआ त्रिकाल संध्या घोखने में लगा था। मुझे तो ऋषि-मुनियों की श्रेणी में पहुंचना था।

विधियां मानसिक संस्कारों का पोषण करके भूतकाल को सजीव करती हुई किस प्रकार संस्कृति को सुदृढ़ करती हैं, इसका मैं जीवित उदाहरण बन गया।

मैं गृहस्थी बना। बारात का जुलूस निकला। मैं हाथ में नारियल ले झंगा-टोपी पहनकर घोड़े पर बैठा और भार्गवों के सर्वश्रेष्ठ कुल के मुखिया की भांति घोड़ी पर पीछे बिठाकर बहू ले आया। बड़ा भारी जुलूस निकला और चार घण्टे घूमा। बिना कमर की स्थिति का विचार किये मेरी भावी धर्मपत्नी को घोड़ी पर पीछे जैसे-तैसे करके बिठाकर रखा जाता, मां, बाप और मामा उसे घोड़ी से उतारते, रोती हुई को चुप कराते और फिर बिठा देते।

अन्त में बारात चढ़ी और ज्यौनार हुई।

रात को वेश्या का नाच हुआ; उसके बिना समारम्भ अधूरा समझा जाता। हीरों से जगमगाती और सुगन्ध से महकती दो अपरिचित स्त्रियों को सबके बीच नाचती देखकर मुझे आघात लगा। मेरे हृदय में तपश्चर्या की लगन लग रही थी। यह स्त्री-दर्शन मुझे पाप की विजय जान पड़ा। मैं अकेला तीसरी मंजिल पर चला गया और गायत्री मन्त्र बोलने लगा।

: ६ :

बहुत-से अंग्रेज अफसरों के साथ पिताजी का गहरा सम्बन्ध था। उनमें भी एफ० एस० पी० (बाद के सर फ्रेडरिक) लेली के साथ उनकी खूब पटती थी। यह कहा जा सकता है कि लेली और पिताजी में मित्रता थी—वैसी ही जैसी कि काले हाकिम और गोरे मालिक के बीच हो सकती है। लेली की मेज़ पर एक आदर्श वाक्य लिखा रखा रहता था—'Fear of God is the beginning of wisdom.' यह वाक्य पिताजी को प्रिय था।

पिताजी की मृत्यु के बाद भी लेली साहब ने सन् १९२४ तक मेरे साथ पत्र व्यवहार रखा था। इसी कारण मेरा विश्वास है कि इन दोनों का सम्बंध कुछ अंशों में रंग और अधिकार-भेद की सीमा लांघ चुका था। जहाँ कार्य-दक्षता और सत्यता की आवश्यकता पड़ती थी वहाँ लेली साहब पिताजी को भेजते थे।

जिस समय मुझे यज्ञोपवीत दिया गया उस समय पिताजी सचीन के दीवान नियुक्त हुए थे। दीवान तो केवल नाम था। नवाब की अस्वस्थ मनोदशा के कारण सचीन में 'एडमिनिस्ट्रेशन' बैठा था और ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उसका सारा काम पिताजी के हाथ में था।

१८९९ के बाद मैं सचीन नहीं गया। लेकिन आज भी दिन की गाड़ी से गुजरात जाते समय जब सचीन का स्टेशन आता है तब कुछ-कुछ बाल-

सुलभ चपलता से गर्दन खिड़की के बाहर निकल जाती है।

पिताजी ने सूरत का घर भी रखा था और सप्ताह में दो-तीन दिन वे स्वयं सूरत आते थे। कई बार मैं भी उनके साथ बग्घी में बैठकर सचीन जाता था। सूरत से रवाना होकर हम उघना जाते। वहाँ एक अच्छे-खासे घर में एक स्वामीजी रहते थे, जो हमारा सत्कार करते थे। इन स्वामीजी के लिए मेरे मन में भारी आदर था। कारण, जिस गद्दी पर वे बैठते थे उसकी बगल में एक शर-शैया पड़ी रहती थी। खाट-जैसे तख्त पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर कीलें ठुकी हुई थीं। स्वामी हर-एक को यह सूचना देते थे कि वे रात को इसी के ऊपर सोते हैं। कई बार मुझे भी ऐसी शर-शैया पर सोकर ईश्वर-प्राप्ति का विचार आता था।

उघना से चलकर दोनों तरफ के पेड़ों की सघनता से शोभित रास्ते पर हमारी गाड़ी आगे बढ़ती थी। जाने का समय सामान्यतः रात का ही होता था। पवन से हिलते हुए पेड़ नाचते हुए राक्षसों के समान दिखाई देते थे। उन पर चमकते हुए जुगनू ऐसे लगते थे मानो राक्षसियों के अंगों पर मणियाँ लटक रही हों। तेज़ जाती हुई गाड़ी की चाल के साथ-साथ मेरी कल्पना भी आगे बढ़ती थी। मेरी शिराएँ ऐसे हर्ष से नाचती थीं मानो मैं राक्षसों का नाश करने निकला हूँ। ऐसा करने का कारण किसी प्रणय-विह्वल बालिका की रक्षा करना ही था।

सचीन में मेरी बाल-कल्पना को अद्‌भुत रंगों से रंगने की अनेक सामग्रियाँ थीं। पहले तो पुस्तकालय में मँगाई जानेवाली सभी पुस्तकें डाक से दीवान साहब के घर आती थीं। इसलिए नारायण हेमचन्द्र और जहाँगीर तारापोरवाला उपन्यासों को मैं बिना भूख-प्यास की चिन्ता किये पढ़ जाता था। लेकिन इस बीच दो पुस्तकों ने मेरे हृदय पर अधिकार जमाया। एक 'हातिमताई के पराक्रम' नामक पुस्तक थी। बोलते हुए पर्वत, उदार पक्षी, दयालु सिंह आदि अद्‌भुत वस्तुओं से भरे हुए जंगलों में मैं उनके साथ विहार

करता था। दूसरी पुस्तक का नाम 'कुलीन और मुद्रा' था। तारापोरवाला का यह उपन्यास मेरे बाल-कल्पना के विलास को ऐतिहासिक उपन्यास का मार्ग बता रहा था।

सचीन के जीवन में मुहम्मद नाम के एक सिपाही का भी बड़ा भाग था। वह हर रोज़ शाम को मुझे गाँव के बाहर खेतों में घुमाने ले जाता और लम्बी, रसमयी तथा अद्भुत कहानियाँ सुनाता। मुझे आजतक याद है कि इनमें से कितनी ही कहानियों ने मेरी कल्पना पर गहरा प्रभाव डाला था।

एक था राजा का कुंवर। उसको एक दिन नदी में बहकर आती हुई जूतियों की जोड़ी मिली। उनके सौंदर्य से आकर्षित होकर वह उनकी मलिका के ऊपर मुग्ध हो गया और देश-विदेश भटककर उसे खोज निकाला।

दूसरा एक राज्य का कुँवर था। सौतेली माँ के द्वेष के कारण उसे घर छोड़कर जाना पड़ा। अत्यन्त घने जंगलों को पार करते हुए उसे 'लाल-बहादुर' नाम का एक बौना आदमी मिला और उसकी सफलता से वह एक सुन्दर राजकुमारी और उसके बाप के राज्य दोनों वस्तुओं को प्राप्त कर सका। इतना ही नहीं, अपने बाप को हराकर उसके हृदय में स्थान भी प्राप्त किया।

एक तीसरा राजकुमार था—सात भाइयों में सबसे छोटा। इन्द्र के घोड़े की सहायता से वह भी कीर्ति, राज्य और स्त्री को प्राप्त कर सौभाग्य-शाली हुआ।

इन कहानियों को मैं एकाग्रचित्त से सुनता। रात को मुझे इस विषय के ही स्वप्न आते और पूरा दिन राजकुमारों के स्मरण में ही जाता।

सचीन का मध्यकालीन वातावरण भी ऐसी कल्पित कहानियों के अनु-कूल था। नवाब साहब का दरबार लगता था; वेश्याओं का नृत्य होता था; बाहर पहरेदार पहरा देते थे। पहली बार जब मैं पिताजी के साथ दरबार में गया तो नवाब साहब मुझे अपने अन्तःपुर में ले गए। वहां बेगम

साहब ने मुझे प्रेम से बुलाया, मेरा नाम पूछा और मेरे हाथ में एक सुन्दर रेशमी रूमाल में बँधी गिन्नियों की पोटली रख दी। मैंने न तो कभी ऐसा सुन्दर रूमाल देखा था और न इतनी सारी गिन्नियों को ही हाथ में लिया था। मैं अत्यधिक प्रसन्नता से उछलता हुआ पिताजी के पास आया। उन्होंने यह भेंट देखी और उनकी भौहों में बल पड़ गए। उनकी आँखों में झलकनेवाले क्रोध को देखकर मैं थर-थर काँपने लगा। रूमाल और गिन्नियाँ लेकर वे नवाब साहब के पास गये और उन्होंने वे गिन्नियाँ वापस कर दीं। हाथ से जानेवाले रूमाल के सौंदर्य का स्मरण करता हुआ मैं भग्न-हृदय से अपनी मल्कियत के लिए आह भरने लगा।

नवाब और दीवान के बीच भारी अन्तर था। विधानानुसार किये प्रत्येक कार्य से नवाब चिढ़ जाता था। एक दिन बात बढ़ गई। नवाब साहब ने गुस्से में दीवान का खून करने की इच्छा प्रकट की।

ईद आ पहुँची। एडमिनिस्ट्रेशन की इच्छा थी कि अस्वस्थ मस्तिष्क के नवाब को भी खुश रखना चाहिए। इसलिए दीवान ने ईद की सवारी, नमाज और दरबार के अनुकूल बन्दोबस्त किया। नवाब के महल, मस्जिद और हमारे घर के आगे पुलिस की टुकड़ियाँ तैनात की गईं।

नवाब साहब की सवारी निकली। हमारे घर खबर आई कि नवाब साहब ने आज ही दुष्ट दीवान का खून करने का निश्चय किया है। सवारी हमारे घर के आगे से ही जानेवाली थी, इसलिए घर के सब दरवाज़े और खिड़कियाँ बन्द कर दिये गए। घर के आगे पुलिस की टुकड़ी पड़ी थी, जिससे ऐसा मालूम होता था मानो गढ़ का घेरा डाला गया हो।

मेरे हृदय की धड़कन मेरे कान में सुनाई देती। माँ की आँखों में आँसू भरे थे; पिताजी की आँखें क्रोध से पूर्ण थीं और मैं दोनों की ओर घबराकर देख रहा था।

पिताजी सदा एक रिवाल्वर रखते थे। उसे निकालकर उन्होंने अपने

हाथ से साफ किया और उसे धीरे-से सात बार भरा।

इस विचार से कि क्या होगा, मेरी बाल-काया थर-थर कांप रही थी। फिर भी मैं खिड़की की संध में से देखता रहा।

सवारी आई। दो-चार बग्घियां आगे थीं। पीछे नवाब साहब अस्वस्थ दशा में घोड़े पर बैठे थे। सवारी हमारे घर के आगे आकर रुकी। पिताजी ने सिर पर पगड़ी रखी। माँ आंखें नीची किये, जाने के लिए मना करने लगी, परन्तु पिताजी की मुख मुद्रा इतनी भयंकर थी कि उसकी हिम्मत एक शब्द कहने की भी न हुई। उन्होंने रिवाल्वर भी साथ लिया। मेरा हृदय रोने-सा लगा। मुझे विश्वास था कि पिताजी को नवाब साहब जरूर मार डालेंगे।

पिताजी जब नीचे उतरे तो नवाब साहब का घोड़ा हमारे घर के सामने था। वे होठ दबाते हुए अस्थिर हाथों से कमर से तलवार खींचने का प्रयास कर रहे थे और गुस्से में बड़बड़ा रहे थे। पिताजी बाहर निकल कर सीढ़ियों से उतरे और नवाब साहब के सिर पर कलगी रखने का कर्तव्य पालन किया। नवाब ने विवश प्राणी की भांति चारों ओर देखा, तलवार से हाथ हटाया, घोड़े को एड़ लगाई और आगे बढ़े—सवारी आगे चली।

मुझे नवाब का अदृश्य होता हुआ मुख दिखाई दिया—दाँत कटकटाते हुए वे पिताजी की ओर घूंसा तान रहे थे।

बाहर से देखनेवालों को तो दीवान नवाब को फूल देते हुए दिखाई दिए, परन्तु इस आधे घण्टे में तो हमको भयकर अनुभव हो गया। पिताजी वैतरणी पारकर वापस आ गए थे।

इस घटना के कुछ ही दिन बाद हम नासिक यात्रा के लिए गये और नवाब साहब ने शरीर छोड़ा।

सचीन में हमारे पास एक महाराष्ट्रीय क्लर्क था। उसके पुत्र के साथ मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसका और मेरा यज्ञोपवीत एक साथ हुआ था, इसलिए हमें अपनी मित्रता में दैवी सम्बन्ध दिखाई देता था। हम दोपहर

को ताश खेलते और इसमें अधिकांश बार उसी की जीत होती। एक बार उसने मुझे अपने सदैव जीतने का कारण बताया। वह सुबह-शाम गायत्री का जप करता था।

उस समय मैं भी सुबह-शाम सन्ध्या करता था। इसलिए जीतने की आशा से मैंने भी गायत्री जपना आरम्भ किया। लेकिन मेरा मित्र ऐसा न था जो डिग सकता। मैं एक माला जपूं तो वह दो जपता। मैं दो जपता तो वह चार जपता। वह मुझे रोज हराता और यह विश्वास दिलाता कि जीतने का कारण गायत्री मन्त्र है। अन्त में मुझसे जितना हो सका उतना समय गायत्री मन्त्र के पीछे लगाया, लेकिन न तो मैं जीत सका और न अपने मित्र के समान जप कर सका।

एक दिन मुझे लगा कि इसकी बात में कुछ गड़बड़ है। यह सोचकर मैंने एक दिन गप्प मारी कि मैंने इतने हजार गायत्री का जप किया है। उसने तुरन्त उस असम्भव संख्या में कुछ हजार और मिलाकर मुझे अपनी सदैव की भांति जीत का कारण बता डाला। मैंने कहा कि इतना अधिक जप तो कोई कर ही नहीं सकता। उसने यज्ञोपवीत की शपथ खाई। मैंने उस शपथ में अविश्वास किया और उस पर ब्राह्मण होकर झूठा जप करने का आक्षेप लगाया। हम लड़ पड़े और बोलचाल बन्द हो गई।

मैं ऐसा तेज़ ब्राह्मण था कि इस प्रसंग से मैं यह मानने लगा कि ऐसा झूठा जप करनेवालों के कारण ही पृथ्वी पर मानव की यह गँभीर अधोगति हुई है। एक-दो दिन तक तो मैं इसी विचार में पड़ा रहा कि न जाने इस पाप से पृथ्वी का क्या हो। यही नहीं इस गंभीर विचार के परिणामस्वरूप ब्राह्मणत्व के उद्धार की शुभ अभिलाषा से मैंने एक पुस्तक लिखना भी आरम्भ किया। उसका नाम था 'ब्राह्मणों का कर्तव्य।' इस पुस्तक के आरम्भ में मैंने झूठा जप करने वालों के ऊपर आक्षेप किया था। कुछ दिन बाद इस पुस्तक को अधूरा छोड़कर मैंने डायरी शुरू की। डायरी १ जनवरी

१८६७ से शुरू की गई है, ऐसा इसमें लिखा है। आरम्भ में मैंने नादी रूप में भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक को दिया है—

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णा स्रोतो विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्व भूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः।

सचीन के संस्मरणों का प्रकाशमय केन्द्रबिन्दु तो एक आठ-नौ वर्ष की बालिका थी—गौरवर्ण और तेजस्वी, स्नेही और चपल। हम दोनों छोटे बच्चों की तरह साथ-साथ खेलते थे, ऊधम मचाते थे, लड़ते थे और कभी-कभी रो भी पड़ते थे। उसमें मेरे प्रति गहरा भक्ति-भाव था। मेरी कल्पना ने उसके आस-पास कितनी ही सृष्टियाँ रचीं और विनष्ट कीं।

एक मूर्ख कल्पनाशील बालक के तीन-चार महीने के संस्मरणों के मूल में से कितने ही वर्षों तक स्वानुभव और साहित्य की सरिताएँ प्रवाहित होती रहीं। इन स्मृतियों के रंगीन चित्र विशेष रूप से 'वैर का बदला' में दिये गए हैं। मैं नहीं चाहता कि यथार्थ जीवन के एक अत्यंत साधारण अनुभव के वर्णन से इन चित्रों की मोहकता को नष्ट कर दें।

१८८७ में पिताजी के साथ मैं नासिक की यात्रा के लिए गया। परेल उतर कर हमने जी० आई० पी० की गाड़ी पकड़ी। बम्बई का यह मेरा प्रथम अनुभव था—धुँआ, गन्दगी, बड़े-बड़े घर और घनी आबादी। मुझे याद है कि यह सब देखकर मेरे हृदय को एक धक्का-सा लगा था।

फिर कुछ धुँधली स्मृतियाँ हैं। बहियाँ देखते हुए पंडों का समूह एक नई चीज थी। त्र्यंबकेश्वर में एक पंडे ने आग्रह किया कि हम उसके यजमान बनें। बही देखकर पिताजी ने दूसरे को पंडा बनाया। हम कुण्ड में नहाने गये तो भी पहले पंडे ने हमारा पीछा न छोड़ा और बाद में तो वह गाली देने लगा। पिताजी ने उसे धमकाकर जब पुलिस को बुलाया तब कहीं वह गया।

तीर्थों की पवित्रता यात्रियों के हृदय में ही रहती है, इस बात का अनुभव मुझे पहले-पहल यहीं हुआ।

: ७ :

हम नासिक से लौटे और पिताजी की बदली धंधूके हुई। वहां किसी के ऊपर रिश्वत लेने का आरोप था। इसलिए उसकी जाँच-पड़ताल के लिए उनकी नियुक्ति हुई और माँ, बहनें तथा मैं भड़ौंच रहे।

इस समय एक छोटा-सा पिल्ला मेरा गहरा दोस्त हो गया। वह सुनहरी रुई के गोले जैसा सुहाना, नन्हा-सा और आकर्षक था, मानो जीता-जागता खिलौना हो। उसने मुझे पागल-सा बना दिया। मैं दिन-भर उसके साथ खेलता, उसे पुचकारता या उसे गोदी में लिये रहता। अपने हाथों ही मैं उसे नहलाता। स्वयं जाकर उसे दूध पिलाता। हम दोनों साथ ही घूमने जाते, दौड़ते और खेलते। उसका नाम मैंने बोबी रखा था।

बोबी की आँखें बहुत ही सुन्दर थीं और वे बड़ी देर तक स्नेह से मेरे ऊपर लगी रहती थीं। बहुत बार मैं उसे अपने सामने बिठाकर उससे अपनी सारी बातें कहता। मैं परीक्षा में पास हूँगा या नहीं, मेरा विवाह होगा या नहीं, बोबी 'ब्रेव बोबी' की भाँति मुझे मरने से बचायगा या नहीं आदि बहुत-सी बातें मैं करता और उन सबका जवाब बोबी बिना बोले अपनी आँखों से ही दे देता।

कभी-कभी मैं उससे कहता—"हम दोनों दमास्कस के कोट के बाहर जाकर सो रहेंगे और सवेरे सरदार राजा का उत्तराधिकारी खोजने दरवाजा खोलेंगे। वे मुझे अन्दर ले जाकर गद्दी पर बिठायंगे और राजकुमारी का ब्याह मेरे साथ कर देंगे। उस समय तुझे भी हीरों से मढ़ूँगा।" मेरी इन व्यक्तिगत बातों में उस अकेले को गहरी श्रद्धा थी।

जब कभी वह प्रेम के आवेश में आता तो मुझे चाटने लगता। मैं उसे

यह बताने का प्रयत्न करता कि ब्राह्मण का कुत्ता ऐसा अब्राह्मण कार्य नहीं करता, लेकिन यह बात बोबी के गले उतरती ही नहीं थी। यह देखकर मुझे उस पर बेहद गुस्सा आता था।

यह पिल्ला दिन-भर मेरे पीछे चक्कर लगाता था। रस्सी से बँधना उसे पसन्द नहीं था। कोई बाँधता तो छोटे बच्चे की भाँति क्रन्दन करके रो पड़ता। मैं यह सुनकर दौड़ता हुआ आता और उसे छुड़ाकर उसके आँसू पोंछने बैठ जाता। रात को भी न जाने कहाँ से आकर वह मेरे बिस्तर में छिप जाता।

मैं बोबी को अपने साथ भड़ौंच ले गया, लेकिन वहाँ अनेक मुश्किलें खड़ी हो गईं। वहां चपरासी नहीं थे इसलिए उसकी सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर आ पड़ी। सचीन में रसोईघर अलग था, इसलिए यह वहां तक नहीं जाता था, परन्तु भड़ौंच में तो यह दालान से तुरन्त रसोईघर में घुसकर ब्राह्मण के घर के चौके को अशुद्ध कर देता और रस्सी से बाँधा जाता तो चिल्ल-पुकार मचाता।

उस समय मैं त्रिकाल संध्या करता। नहाकर रेशमी लुंगी पहनकर मैं ऊपर महादेव जी की कोठरी में संध्या करने जाता तो मुझे दालान में होकर जाना पड़ता। उस समय बोबी मेरे साथ जाने के लिए हाथ-पैर पटकाता। उसकी भयंकर चीखों से घर गूँजने लगता और उसके प्राण जाते देखकर मेरा हृदय फटने लगता। संध्या करूँ या उसे चुप कराऊँ इन दो बातों के निर्णय करने में मेरा मन उलझ जाता। दो-चार बार तो ऐसा हुआ कि वह रस्सी तोड़कर मुझे चाटने आ गया और मुझे फिर से नहाना पड़ा।

मेरी आत्मा ऊब उठी। यह रोज़ का झगड़ा था, इसलिए मैंने एक बार अत्यन्त कठोर निर्णय किया। बोबी के बिना तो चल सकता था, परन्तु अप-वित्र होकर संध्या कैसे की जा सकती थी? पड़ोसी से मिलकर यह निश्चय किया कि बोबी को उसके बगीचे में भेज दिया जाय।

दूसरे दिन मैं उससे अन्तिम बार मिला। दुःख से विदीर्ण होते हृदय की सिसकियों को रोककर मैंने उसकी आँखों के विश्वास को देखा। समस्त विश्व में अकेला मैं ही उसका आधार था। अपनी क्रूरता पर लज्जित होता हुआ मैं बोबी को लेकर अपने पड़ोसी के माली को दे आया। बोबी की आँखें मुझ पर लगी थीं। इस अप्रत्याशित वियोग से व्याकुल होकर उसने मेरे पास आने के लिए बहुत हाथ-पैर पीटे। उसकी चीखों से मेरा हृदय फटता था। उसे लौटा लेने का मन हुआ परन्तु यह भय लगा कि संध्या करने जाते समय वह मुझे रोकेगा, इसलिए मैं वहाँ से आँख मीचकर भागा। बहुत दिन तक रोज़ रात को मेरे कान में वे चीखें पड़ती सुनाई देतीं तो मैं बिस्तर में मुँह गड़ाकर बुरी तरह रोया करता।

: ८ :

आज का सूरत का सार्वजनिक स्कूल उस समय The English School—'ढींगली'[1] स्कूल के नाम से विख्यात था। इस स्कूल में चुन्नीलाल मास्टर से पढ़कर मैंने डेढ़ वर्ष में पहले तीन दर्जे पास किए थे। बाद में मैं भड़ौंच के स्कूल में दाखिल हुआ।

जब मैं चौथे दर्जे में गया तब भंडारकर की संस्कृत-मार्गोपदेशिका का पहला पाठ पढ़ाया जा रहा था। मास्टर साहब ने पहले ही दिन पाठ के नीचे दिये हुए Penultimate—उपान्त्य आदि भयंकर शब्दों से पूर्ण नियम रटने के लिए दिये। यह रटने का युग था। यह तो चल सकता था कि वाक्य समझ में न आवे, परन्तु यदि एक भी शब्द बोलने से रह जाता तो कड़ी फटकारी जाती थी। मैंने परिश्रम करने में कोई कमी नहीं रखी। संस्कृत व्याकरण का रहस्य समझाने के लिए एक मास्टर रखा। गच्छामि,

---

१. गुड़िया।

गच्छावः से सारा घर गुँजा दिया। संधि के सभी नियम तेज़ी से रटने लगा।

लाख प्रयत्न करने पर भी इन सबमें मेरी गति नहीं हुई। यों बाद में अनेक बार भंडारकर की पुस्तकें रटीं, परीक्षाएँ दीं और अच्छे अंक प्राप्त किये। लेकिन पहले-पहल जो अरुचि हो गई थी वह आज तक बनी है और इसके परिणामस्वरूप मेरा व्याकरण का ज्ञान नहीं के बराबर रह गया है।

भंडारकर की विद्वत्ता अगाध थी, परन्तु उनका बाल-मस्तिष्क का ज्ञान अत्यन्त परिमित था। उनकी कठिन प्रणाली से अनेकों को संस्कृत क्लिष्ट हो गई है।

भड़ौंच में उपनाम देने की बड़ी आदत थी। आज है या नहीं, यह पता नहीं। एक वृद्ध और प्रतिष्ठित पुरुष 'बालु बपोरियो', एक युवक 'हीरो हरभान' तथा एक और युवक 'मगन बोडी' के नाम से विख्यात थे। उसे यह नाम क्यों दिया गया था, यह मुझे पता नहीं है। वह था मेरा क्रिकेट का गुरु—प्रथम और अन्तिम।

कुछ वर्षों के बाद क्रिकेट के साथ मेरा सम्बन्ध शुरू हुआ। बैट, बॉल और स्टम्प्स लेकर मैं अपनी गली में खेलता था। भड़ौंच स्कूल में क्रिकेट खेलने जानेवालों को बीस अंक रोज मिलते थे, इसलिए इस लोभ के कारण मैं भी क्रिकेट का भक्त बन गया।

हम गाँव के बाहर एक खेत में, जहाँ आज नाट्यशाला है, क्रिकेट खेलने जाते थे। इस खेत के आस-पास ऊँची-ऊँची इमलियाँ थीं, इससे उस स्थान का नाम ही 'इमलिया' था।

दस वर्ष का मैं कोमल और नन्हा-सा बालक सवेरे डेढ़ मील स्कूल जाता और शाम को डेढ़ मील वापस आता। ठीक से खाना भी न खाता और बीस अंकों के लोभ से इमलियों में क्रिकेट खेलने जाता। यह मेरा स्वास्थ्य सुधारने का ढंग था।

'मगन' बड़ा ही मस्त युवक था। उसका शरीर लम्बा, मज़बूत और सुन्दर था। वह क्रिकेट का महारथी था। वह बॉल में इतने ज़ोर से बैट मारता कि वह इमली के ऊपर होकर निकल जाती और हम सब दाँतों तले उँगली दबाने लगते। मुझे 'बी' टीम में रखा गया। बैट मेरे कन्धे तक पहुँचता; मैं उसे बड़ी मेहनत से उठा पाता था। बॉल मेरे हाथ में नहीं आती थी और जब मैं बॉलिंग करता तो बॉल सामने के स्टम्प तक पहुँचते-पहुँचते थक जाती या इधर-उधर चली जाती। सामान्यत: मैं पहली या दूसरी बॉल में ही आउट हो जाता और केप्टन मुझे दूर की 'फील्डिंग' देता। मैं दौड़ते दौड़ते थक जाता, थककर पानी पीता और यह कठिन परिश्रम करके बीस अंक प्राप्त करता। मेरे लिए क्रिकेट खेल नहीं था, शिक्षा थी।

बहुत बार मुझे 'मगन' की भांति हिट मारने की अभिलाषा होती, परन्तु वह जैसे मन में उठती वैसे ही मर जाती।

इस प्रकार मैंने तीन महीने शारीरिक शिक्षा प्राप्त की। इसमें मेरा शरीर क्षीण होने लगा और मुझे बुखार आ गया। परिणामस्वरूप पिताजी ने मुझे धंधुके बुला लिया और क्रिकेट के शौक को मैंने अन्तिम प्रणाम किया।

पीछे होनेवाले क्रिकेट के अनुभवों को भी मैं यहां दिये देता हूँ। कालिज में पहुँचने पर मुझे अनेक क्रिकेट के शौकीन मित्रों का साथ मिला और क्रिकेट की परिभाषा के अज्ञान से मैं मूक-बधिर बन गया। इस अज्ञान को दूर करने के लिए मैंने कालिज की छत पर अकेले बैठकर रणजीतसिंह के क्रिकेट के महोत्सव-ग्रन्थ का अध्ययन कर डाला और एल० बी० डब्ल्यू०, योर्कर, हेटट्रिक आदि शब्दों से अपना कोष बढ़ा लिया। जब कभी हमारे कालिज में शील्ड-मैच होते तब मैं पुस्तक लेकर कालिज के गुम्बद में पढ़ने चला जाता। क्रिकेट के दिनों में मेरा तत्वज्ञान और एकान्त का प्रेम एकदम बढ़ जाता था।

जब कालिज में क्रिकेट की वायु बहुत तीव्रता से बहने लगी तब मैंने

शील्ड-मैचों की स्पर्धा में एक बार 'टीन पॉट' मैच खेलने की योजना बनाई। हमने बाईस नौसिखियों की दो टीमें तैयार कीं और निश्चय किया कि जो टीम हारेगी उसे तीन पैसे का एक डिब्बा दिया जायगा। एक टीम का मैं कैप्टन भी बना। इन दोनों नौसिखिया टीमों में मेरी टीम का हराना मुश्किल था फिर भी मुझे लेने-के-देने पड़ गए।

गुजरात और बड़ौदा कालिजों में नार्थकोट-शील्ड मैच था। उसके लिए हमें अहमदाबाद जाना था। ग्यारह खिलाड़ियों का होना आवश्यक था। कालिज में तीन खिलाड़ी तो महाराज फतहसिंह की अद्वितीय टीम के थे। शेष आठ के लिए हमने अपने भीतर से भरती कर डाली। पंड्या सेक्रेटरी थे, इसलिए उनका होना तो लाज़मी था ही; दूसरे नागरजी दौड़ने में एक ही थे, उन्हें लिया; तीसरे साढ़े-छः फुट के दरु डम्बल्स में प्रवीण थे, उन्हें लिया; एक टेनिस अच्छी खेलते थे, उन्हें लिया। मुझे स्कोर लिखना नहीं आता था तो भी मैं स्कोरर हुआ। सबने पांच-सात दिन प्रेक्टिस की और हम झण्डा फहराते हुए शील्ड-मैच खेलने के लिए अहमदाबाद गये।

खाने के लिए हमारी व्यवस्था अहमदाबाद कालिज के मैसों में की गई। एक मैस में जब हम खाने बैठे तब एक रसोइया चार-पाँच गर्म फुलका लेकर परोसने आया। पंड्या नागर की ओर देखें, नागरजी दरु की ओर। इस तरह कैसे काम चलेगा?

पण्ड्या ने रसोइया से कहा—'महाराज,ये सब रोटियां मुझे ही दे दो। दूसरों के लिए और लाओ।' रसोइया सन्न रह गया। दस मिनट में दूसरी तीन रोटियां आईं और हम तीन-चार महारथियों को रोटियां चाहिए थीं अस्सी। हम हँसते जाते और रोटियों की बाट देखते जाते। खाते-खाते हमारी कीर्ति फैल गई। पास के मैस का रसोइया आया, फिर आटा गूंधा गया, दो घण्टे तक हम खाते रहे और जब क्रिकेट के मैदान में प्रविष्ट हुए तब बड़ौदा कालिज की कीर्ति प्रत्येक प्रेक्षक के कान में पहुँच चुकी थी।

हम बैट करने चले। गुप्ता ने पहली बॉल पर ही चार रन बनाए; उसके सामने जो आता वही गड़बड़ा जाता। पीछे से आनेवाले खिलाड़ियों ने हद कर दी—कोई बॉल रोकने की तकलीफ ही गवारा न करता और वह स्टम्प्स में जाकर गिरती। पाण्ड्या, दरु और नागरजी तो हँसते हँसते जाते, बैट लेते, रखते और लौट आते। बड़ौदा कालिज ने आउट होते-होते ग्यारह रन बनाये थे। उनमें आठ तो अकेले गुप्ता के थे।

हमारा जोश ऐसा न था जो ठण्डा होता। बड़ौदा कालिज बॉल करने गया। महाराज के तीन खिलाड़ियों में दो तो बॉलर ही थे। उन्होंने बॉलिंग शुरू की और अहमदाबाद के स्टम्प्स झटपट गिर गए। भगवान की कृपा से फील्डिंग की ज़रूरत ही न पड़ी। पन्द्रह-बीस रन बनाकर गुजरात कालिज की टीम आउट हो गई। हमारे हर्ष की सीमा न थी।

दूसरी इनिंग में भी ऐसा ही हुआ। चार-पाँच रन से अहमदाबाद की टीम जीती और हम इतने रौब से खाना खाने गए जैसे हम ही जीते हों। हमने सोचा कि क्रिकेट की हार भोजन पर दिग्विजय करके भुला देनी चाहिए। बड़ौदा कालिज के कीर्ति-कलश के जगमगाते रहने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। हमारे महारथियों ने अकल्पनीय पराक्रम प्रदर्शन किया। पंड्या ने साठ-सत्तर पूरी खाकर अमर कीर्ति प्राप्त की। दूसरे तीन अपना स्कोर पचास तक ले आए। रात को हमारी क्रिकेट की हार गौण विषय हो गई। खाने के मैच में गुजरात कालिज को पराजित कर हम गर्व के साथ बड़ौदा आये।

मेरे जीवन से क्रिकेट चली गई। बम्बई में चौमासे के बाद क्रिकेट के शौक का रोग-सा लग जाता है, लेकिन तो भी मुझे एक बार उसका चेंप नहीं लगा।

एक-दो बार मैं किसीके आग्रह के कारण बड़े मैच देखने चला गया हूँ, परन्तु मैंने यह सोचकर चुपचाप वे मैच देखे हैं कि यदि मैं यह कहूँगा कि

मुझे क्रिकेट में रुचि नहीं है तो लोग मुझे बुरा कहेंगे। लेकिन खेलों के सरताज क्रिकेट से मैं सदैव निर्लिप्त रहा हूँ।

: ६ :

१८६८-६६ में धंधुका के तहसीलदार एक छोटे राजा के समान थे। वे जब राजपुर से बहली में बैठकर आते तो गाँव के बड़े लोग एक गाँव आगे से लिवाने के लिए आते। त्योहार और उत्सव के समय बड़ा भारी दरबार लगता। दशहरे के अवसर पर श्रीमान शमी पूजन के लिए जाते और आधा गाँव सवारी में भाग लेता। वर्ष के अन्तिम दिन तो शायद ही ऐसा कोई आदमी हो जो सलाम करने न आता हो।

यह माना जाता था कि यदि हाकिम लोग चाहें तो धंधुका में थोड़े ही दिनों में अच्छा पैसा पैदा कर सकते हैं। ऐसे ही एक मामले की जाँच का काम पिताजी के सिर आ पड़ा था। गाँव भी उस्ताद था वह। ऐसा था जो जाँच करनेवाले की भी जाँच करे। एक त्योहार को गाँव के बड़े लोग मिलने आए। कोई फूल लाया, कोई नारियल दे गया। एक सेठ ने हार कलगी रखी और विदा ली। उसे उठाया तो देखा कि नीचे एक सोने की चूड़ी पड़ी थी।

पिताजी का मुंह लाल हो गया। उन्होंने सिपाही को आवाज़ दी और उस सेठ को बुलाया। वह हर्षित होता हुआ आया, लेकिन रायसाहब को देख कर काँपने लगा।

'यह तुमने रखी है?' कहकर पिताजी ने चूड़ी फेंक दी।

सेठ बगलें झाँकने लगा।

'उठाकर ले जाओ। खबरदार जो मेरे घर में पैर रखा तो!'

सेठ जीने से उतरकर चला गया और जब तक हम रहे, उसने हमारे यहां आने की हिम्मत नहीं की।

धंधुका के जीवन-पट पर बने अधिक चित्र नहीं मिलते।

मेरे बहुत-से सहपाठियों ने तो राजपुर तक आकर रेल भी नहीं देखी थी, इसलिए उनके लिए मैं डेविड लिविंग्स्टन जैसा साहसी यात्री था। स्कूल में मेरी गप्पों की बड़ी कीमत थी। लेकिन पढ़ने में मैं इतना कच्चा था कि रायसाहब के लड़के को आगे बढ़ाने की मास्टरों की भारी इच्छा के होते हुए भी मैं अन्तिम नम्बर से आगे न बढ़ सका। परिणाम यह हुआ कि मैं परीक्षा में फेल हो गया।

पिताजी गुस्से हुए। मुझे धमकाया। हैडमास्टर से भी कहा। अन्त में हैडमास्टर ने मेरी शिक्षा प्राइमर से शुरू की। दो महीनों में उनके कारण मुझे अंग्रेजी पढ़ने में अच्छी रुचि हो गई। उन्होंने व्याकरण की अपेक्षा कहानियाँ पढ़वाकर मुझे अँग्रेजी पढ़ाना शुरू किया। मुझे अँग्रेजी पढ़ने का चस्का लगा। मैं अँग्रेजी में निबंध लिखने लगा और दो महीने बाद परीक्षा लेकर मुझे पाँचवे दर्जे में चढ़ा दिया गया। तब मैं अँग्रेजी में अद्वितीय समझा जाने लगा। इस पराक्रम के लिए पिताजी ने मुझे सर वाल्टर स्काट के चार-चार आने के आठ-दस उपन्यास भेंट किए। बिना समझे ही मैंने "रॉब रॉय" कितने आनन्द से पढ़ी थी उसकी स्मृति तो आज भी बनी है।

गाँधी मास्टर को मुझसे बड़ा प्रेम था। उन्होंने मेरी पढ़ाई तथा अन्य बातों में रस लेना शुरू किया। वे रोज शाम को घर आते और अँग्रेज़ी में बातचीत कराते। वे B. Sc. में पढ़ते थे, लेकिन स्वयं अंग्रेज़ी में एक पुस्तक लिख रहे थे। उसके परिच्छेद मुझे पढ़कर सुनाते थे। मुझे भी वैसी पुस्तक लिखने का शौक हुआ।

इसी बीच हमारे स्कूल में पुरस्कार वितरणोत्सव हुआ। उसके लिए 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' के कोर्ट प्रवेश के स्थल को खेलने का निश्चय किया गया। उस समय मेरा मस्तिष्क रंगमंच में डूबा रहता था। इसमें ड्यूक का पार्ट मुझे मिला। ड्यूक, पोर्शिया और बेसेनियो, शायलॉक और ऐन्टोनियो को सजीव करने के मैंने जो बाल-प्रयत्न किये थे उनकी मुझे कुछ-

कुछ स्मृति है। साढ़े तीन बालिश्त का सूखी लकड़ी जैसा ड्यूक कमर पर हाथ रखकर स्थूल शरीरवाले पिता का अनुकरण करता हुआ मेज़ के सामने खड़ा था। ड्यूक से दो बालिश्त लम्बी पोर्शिया चाँदी की करधनी और लाल टोपी पहने तीव्र स्वर से 'Quality of Mercy' की आवाज लगने लगी। एक मोटा ऐन्टोनियो शायलॉक को दिये जानेवाले मांस का प्रदर्शन करने लगा। मैली धोती और फटा हुआ कोट पहने शॉयलॉक हाथ में लोहे की तराजू लिये बिना समझे ही 'A Daniel came to judgment' की पुकार लगाने लगा।

लेकिन हम इस विचित्रता से अनजान रहे। शब्द, वाक्य और पात्र हमारे हृदय में नई उमँगें उठा रहे थे। स्वप्न में रियोल्टो धंधुका के बाजार के रूप में आता था। मैं ड्यूक हूं, यह सोचकर मुझे प्रसन्नता हुई।

समारोह हुआ। मैं मेज़ के पास घबराया-सा खड़ा था। सभा आँखों के आगे चक्कर खाती हुई जान पड़ी। जितनी आवाज़ गले से निकल सकी उतनी से मैंने अपना पार्ट पूरा किया। यह पार्ट करने के लिए मुझे बारह आने की पुस्तकें पुरस्कार में मिली थीं। उनमें ह्यूगो की 'हरनानी' नामक पुस्तक भी थी। वह आज भी मेरे पास सुरक्षित है। बहुत-से लोग यह कहकर कि मैंने बड़ा अच्छा काम किया, पिताजी को खुश करने की कोशिश कर रहे थे।

पिताजी ने जाते-जाते गांधी मास्टर को रेवेन्यु डिपार्टमेण्ट में जगह दिलवा दी। वर्षों हो गए। हमारा सम्पर्क समाप्त हो गया। सहसा गांधी मास्टर का पत्र आया—वे बम्बई में डिप्टी कलक्टर हो गए थे। हम मिले। जैसे मैंने उनकी स्मृतियाँ कृतज्ञता से अपने हृदय में संचित कर रखी थीं वैसे ही उन्होंने भी प्रेमपूर्वक अपने शिष्य की स्मृतियों को ज्यों-का-त्यों बना रखा था। हम घण्टे-भर के लिए वर्षों का व्यवधान भूल गए और मास्टर और शिष्य बनकर धंधुका के जीवन का आनन्द लेने लगे।

उनकी बदली हुई, पत्र आया और पता चला कि वे स्वर्ग सिधार गए। उसी समय मुझे यह अनुभव हुआ कि शिष्य के हृदय में बाल्यकाल के गुरु का स्थान कैसा निश्चित होता है।

गुजरात और भड़ौंच में प्लेग का प्रकोप हुआ। बड़े काका ने समझदारी से वैर भुलाने का रास्ता निकाला। अपने छोटे पुत्र अचुभाई को धंधुका भेज दिया। पिताजी खुश हुए—'चलो वर्षों का वैर मिटा।'

अचुभाई मुझसे दस-पन्द्रह वर्ष बड़े होंगे फिर भी हम दोनों के बीच प्रगाढ़ स्नेह स्थापित हुआ। वर्षों से अपंगु बनकर वे खाट पर पड़े थे और मैं वर्षों से उनसे मिल भी न सका था। लेकिन बिना भाई का मैं इनके द्वारा बड़े भाई वाला बना और खाट में पड़े रहने की अवस्था में पहुंचने की अवस्था में भी वे सदा इस छोटे भाई को आर्द्र हृदय से स्मरण करते थे।

धंधुका की अन्तिम स्मृति तो ऊँट पर की हुई सवारी की है। यह याद नहीं कि ऊँट कैसा था। इतना अवश्य स्मरण है कि पिताजी के साथ किसी गाँव में गया था। लेकिन इस अष्टावक्र की पीठ पर बैठने के लाभ का अनुभव तो आज भी कर सकता हूँ।

हम सवेरे चार बजे के लगभग चले। एक वृद्ध ऊँट लापरवाही से चल रहा था। चारों ओर लालटेनों का उजाला था। पहले पिताजी बैठे, फिर मैं बैठा और इसके बाद वह उठा। मुझे पृथ्वी शेषनाग के मस्तक से गिरती दिखाई दी। उसके बाद वह चला। बहुत हिम्मत की, पर पिताजी को पकड़े बिना न रहा गया। उसकी गति से मैं चारों दिशाओं में—ऊँचे-नीचे, इस ओर और उस ओर—उछलता था। मुझमें इतना विचार करने की भी शक्ति नहीं रही कि मैं किसी क्षण नीचे गिर सकता हूँ।

मेरा सिर चकराने लगा; कमर भी फटने लगी।

'पिताजी, यह कब रुकेगा?'

'अरे, अभी तो बहुत देर है।'

मुझे लगा कि मैं अब इससे नीचे नहीं उतर सकूँगा।

यह लिख रहा हूँ और वह भयंकर अनुभव ताज़ा हो रहा है। ऐसा आभास होने लगता है जैसे कोई चारों ओर प्रहार कर रहा है। उस सवारी के बाद कई दिन तक अंग-प्रत्यंग में जो दर्द और बेचैनी रही वह फिर होने लगती है। शरीर मानो वेदना से पूर्ण थैला बन जाता है और उसमें टूटी हुई हड्डियों की खड़खड़ाहट भी सुनाई देती है।

विधाता ने दुबारा इस प्राणी पर चढ़ना मेरे भाग्य में नहीं लिखा, इसलिए मैं उसका आभार मानता हूँ।

: १० :

१६०० में पिताजी की बदली भड़ौंच ज़िले में डिस्ट्रिक्ट डिप्टी कलक्टर के रूप में हुई। इसलिए मैं गाँधी मास्टर को साश्रु प्रणाम करके भड़ौंच हाईस्कूल में पाँचवें दर्जे में दाखिल हुआ।

धंधुका में मैं प्रतिष्ठा के शिखर पर था। मेरे दर्जे में पाँच या छः विद्यार्थी थे। उस पर भी मैं हेडमास्टर का लाड़ला और रायसाहब का लड़का था। भड़ौंच के दलाल हाईस्कूल के पाँचवें दर्जे के 'बी' वर्ग में मेरा चौबीसवाँ नम्बर था। मेरे सभी सहपाठी मुझसे साधारणतः हाथ-भर ऊँचे और चार वर्ष बड़े थे। इस वर्ग में हमारी जाति के जो चार-पाँच लड़के थे वे तो उनसे भी ऊँचे, बड़े और ऊधमी थे। छः महीने बीत जाने के कारण वे बहुत-से पाठ पढ़ चुके थे और मैं बिलकुल नया था। इस कारण शिखर से गिरकर मैं तो निर्जीवता के गर्त में गिर पड़ा।

हमारी जाति के रायजी मास्टर—वृद्ध, रौबदार, उग्र—भूमिति पढ़ाने आये। पढ़ाने में वे केवल इतना करते थे कि स्टीवन्स की भूमिति में से अक्षर-अक्षर बुलवाते थे और बोलने में यदि तनिक भी भूल हो जाती थी तो

मैं खड़ा हो गया। मुझे आश्चर्य है कि मैं उस समय रो क्यों न पड़ा। लेकिन धीरे धीरे समझ आने लगी। कुछ ही दिनों में बादशाह मास्टर का प्रिय बन गया। वे मेरे द्वारा दूसरे मास्टरों को काजू तक भिजवाने लगे।

बादशाह मास्टर अपने को भारी संगीतज्ञ मानते थे। एक बार वे मुझसे क्लास में 'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तवन्तु' गवा रहे थे कि वर्षा होने लगी।

'देखा लड़के! तूने मल्हार गा डाली नहीं तो वर्षा आती ही कैसे? क्या समझा?'

गणेश बच्चाजी संप्रे नाम के एक महाराष्ट्रीय मास्टर मुझे घर पढ़ाने के लिए आते थे। उनकी मेहनत से मैं पाँचवें दर्जे से छठे में पहुँच गया और मेरी गिनती पहले पाँच-छः लड़कों में होने लगी। अपनी जाति के लड़कों के साथ मैं शैतानी नहीं कर सकता था, इसलिए वे मुझे घृणा की दृष्टि से देखते थे। मैं 'लड़की हूँ,' 'डरपोक हूँ' आदि भाँति-भाँति की बातें वे मेरे लिए कहते। उनमें से एक ने मुझे सलाह दी थी—'भार्गव का कोई लड़का मैट्रिक नहीं होता और मेरे पिता डिप्टी कलक्टर हैं, इसलिए मुझे म्यूनिसिपैलिटी में चुंगी की चौकी के मुन्शी की नौकरी कर लेनी चाहिए, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा।'

पुराने मित्रों में मुझे क्रिकेट सिखानेवाला मगन साथ था, परन्तु हमारी मित्रता अधिक नहीं टिकी। जिस समय मास्टर पढ़ाया करता उस समय वह कागज के टुकड़ों की गोली बनाकर मित्रों की ओर फेंकता। मास्टरों में उसे दण्ड देने की हिम्मत नहीं थी, इसलिए किसी मास्टर को यह पराक्रम दिखाई ही नहीं देता था। मगन भी न्यायी था। वह मित्रों से भी बदले में गोली फेंकने की आशा करता था। वह मेरी ओर सदैव गोली फेंकता और शाम को रोज़ मुझे इस बात का उपालम्भ देता कि मैं गोलियाँ क्यों नहीं फेंकता। एक

बार मैंने बड़ी हिम्मत करके एक गोली बनाकर मगन की ओर फेंकी। गोली उस तक न पहुँच कर उसके पैरों के आगे गिरी।

मास्टर ने मुझे झट पकड़ लिया।

'क्यों रे कनु! क्या तू भी बिगड़ गया? गोलियाँ फेंकता है? खड़ा हो जा!'

मैं नीचा मुख करके खड़ा हो गया। मेरे साथ ही मगन भी खड़ा हो गया।

'मास्टर साहब! गोली उसने नहीं मैंने फेंकी थी। वह गोली मैंने वापस माँगी थी, इसलिए उसने मेरी ओर फेंक दी।'

'अच्छा! तू भी खराब लड़का है?'

'जी साहब!' मगन ने कहा।

'तो तू भी खड़ा हो जा।'

'साहब, मैं खड़ा नहीं हूँगा।'

'क्यों?'

'मैं बहुत बड़ा हूँ, इसलिए बेंच पर अच्छा नहीं लगूँगा।'

'नहीं खड़ा होता—नहीं खड़ा होता? तेरे मार्क्स काट लूँगा।'

'साहब, मुझे इस सप्ताह मार्क्स ही नहीं मिले।'

'अच्छा, अच्छा! कनु! तू बेंच पर खड़ा हो जा। चल खड़ा हो!'

मगन अपनी जगह बैठा रहा; मैं चुपचाप बेंच पर खड़ा हो गया और मगन के साथ होड़ न करने की कसम खा ली।

दलपतराम के साथ भी मेरी मित्रता तभी हुई। वे हमारी जाति के थे। उनके पिता टीले पर हमारे सामने ही रहते थे, हमारे महादेव की पूजा करते थे और अधुभाई काका के सामने महाभारत बांचते थे।

जब मैं अंग्रेजी के पाँचवें दर्जे में सूरत आया तब दलपतराम का चौथे दर्जे में पहला नम्बर था। शुरू से लगाकर किसी भी दर्जे में वे पहले नम्बर से

नीचे गिरे हों, ऐसा कोई नहीं कह सकता। वे एक पैसे की पेंसिल लाते और साल-भर तक चलाते। उनकी नोटबुकें तो ऐसी थीं मानो उनमें मोती के दानों से चौक पूरे गए हों। उनकी किताबों पर कोरा कागज चढ़ाया होता था।

मैं पाँचवें दर्जे में पास हुआ और वे पांचवें दर्जे में आये। तब से हर वर्ष मेरी किताबों पर उनका कब्जा होता रहा। लेकिन मेरी चाहे जैसी रखी हुई, फटी-पुरानी इस्तेमाल की हुई किताबें आठ दिन में नये सिरे से सी जातीं और उनकी जिल्दबन्दी की जाती। उन पर पड़े हुए धब्बे मिट जाते और उन पर नया सुन्दर पट्ठा चढ़ाया जाता।

बहुत बार जब हम साथ बैठते तब भी वे चुप न बैठते। वे मेरी बिना छिली पेंसिलों को छील डालते। मेरे द्वारा डाले हुए धब्बों को मेरी ही इस्तेमाल न की हुई रबर से मिटा डालते। मेरी फटी हुई किताबों का जीर्णोद्धार करते। चीज को ठीक से न रखने की मेरी आदत की जिम्मेदारी दलपतराम के स्नेह के ऊपर है।

हम रोज सवेरे साथ-साथ स्कूल जाते और शाम को साथ साथ ही लौटते। गरमी के दिनों में हम शहर से बाहर नदी के किनारे टीले के ऊपर जाकर बैठते। ये टीले हमने खोज निकाले थे, इसलिए हम उनके ऊपर इस प्रकार घूमते थे जैसे कि उन पर हमारा निजी अधिकार हो।

सरदी के मौसम में हम प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में घूमने जाते। हम अरुण के तेज से रास्ता तय करते, चक्की पीसती स्त्रियों का संगीत सुनते, ठंडी हवा के सरसराहट से हमारे दाँत कटकटाने लगते और नाक ऐसी सुन्न हो जाती जैसे हो ही न। शहर के बाहर जाते हुए पक्षियों का कल्लोल आनन्द की सृष्टि करता था। हम दूर जाकर किसी गाँव के तालाब पर या कुंए की जगत पर बैठते। चारों तरफ खेत फैले हुए दिखाई देते थे, जो हिलते हुए पौधों से नाचते-से दिखाई देते थे। पृथ्वी की नई ताजी सुगन्ध चारों ओर फैलती और हम उसका उपभोग करते। जब उगते सूर्य का बिम्ब सुरम्य

रेखा को स्वर्णमयी बना देता तब हम वापस लौटते। हमारी दृष्टि में सृष्टि सर्जनकाल के तीव्र सौंदर्य को धारण करती जान पड़ती।

इस प्रकार घूमते-घूमते हम हवाई किले बनाते। यदि सच पूछा जाय तो किले बनाता मैं और उनका वर्णन सुनते दलपतराम।

दलपतराम ने मुझे पुरुषसूक्त पढ़ाया और मैंने उन्हें कहानियां सुनाईं। समयानुसार कालिज में जाने से पहले ही मैंने कालिज में जाने की तैयारी कर डाली थी। लेकिन इस विषय में मेरी अपेक्षा दलपतराम की उत्सुकता विशेष थी। मेरे एक वर्ष बाद वे कालिज में आये और वहाँ भी मेरी देख-भाल की जिम्मेदारी उन्होंने ले ली। वर्षों हो गए, जब से मैं बम्बई आया तब से लगाकर उस समय तक जब तक कि मैं और वे काम-धन्धे में लगे, उन्होंने मेरे लिए आवश्यक सुविधाएँ जुटा दीं। उन पर आश्रित रहने की मेरी आदत इतनी पक्की हो गई कि मुझे कमरा न मिले, कहार न मिले, रसोइया भाग जाय, कुछ अच्छी व्यवस्था की आवश्यकता पड़े, कोई मुश्किल आ खड़ी हो तो मैं उनके पास दौड़ा जाऊँ और वे तुरन्त उस काम को कर दें।

इन चालीस वर्षों में हमने अनेक सुख-दुःख देखे हैं। लेकिन हमारा स्नेह जैसा था वैसा ही रहा है। एक छोटे-से झगड़े से भी उसका प्रकाश मन्द नहीं हुआ। इन सबका श्रेय भाई दलपतराम के सरल और स्नेही स्वभाव को है।

दलपतराम का जीवन आदर्शमय है। जब उन्हें अपने सेवा-भाव का ही ख्याल नहीं तो गर्व कहाँ से हो सकता है। वे अत्यन्त गरीबी में पले थे और वैदिक कर्मकाण्ड जानते थे। इसलिए कभी-कभी दूसरों के यहाँ कर्मकाण्ड कराने चले जाते थे। उनका पहनना, खाना और रहना तंगी की अन्तिम सीमा तक पहुँचा हुआ था तो भी वे पढ़ने में कभी पीछे नहीं रहते थे।

कालिज में गए तो भी पिता के मित्रों के नाममात्र के सहारे पर।

उन्होंने शुरुआत में स्कालरशिप और दूसरों की पुस्तकों से काम चलाया।

बम्बई आकर उन्होंने लड़के पढ़ाकर अपना निर्वाह करना आरम्भ किया। वे कालबादेवी के एक होटल में पाँच रुपया महीने में खाना खाते और एक रुपया का घी खाते। जब उन्होंने बी० ए० पास किया तब वे अनन्त ऋषि की बगीची में आठ विद्यार्थियों के साथ एक कमरे में रहते थे। बाद में वे एल-एल० बी० हुए, सॉलिसिटर हुए। उनके जीवन का एक-एक कदम स्वावलम्बन पर आधारित है।

जीवन-विकास के लिए इन अत्यन्त भागीरथ प्रयत्नों को करने पर भी उन्होंने अपने स्वभाव की अनन्य सरलता कभी नहीं खोई। बाधाओं के आने पर न तो वे कभी घबराए हैं और न कभी अकुलाए हैं। उन्हें कभी इस बात का भी ख्याल नहीं आया कि वे कुछ असाधारण कार्य कर रहे हैं। न कभी उन्होंने किसीसे ईर्ष्या की है और न असन्तोष का ही अनुभव किया है।

जैसे वे बचपन में हँसते थे वैसे ही आज भी हँसते हैं।

वे जहाँ गए हैं वहाँ सेवा करते ही रहे हैं। अकेले मुझे ही नहीं, अनेक मित्रों को भी उन्होंने कृतज्ञ बना दिया है। उन्होंने थोड़ी-सी तनख्वाह पर मास्टरी करके कितने ही निराश्रित बालकों को पाला है, पढ़ाया है, काम पर लगाया है। उन्होंने न तो कभी यह सोचा है कि उन्होंने किसी के साथ भलाई की है और न कभी किसी की कृतघ्नता से अपनी सेवावृत्ति को मन्द होने दिया है।

उन्होंने अनेक वीरतापूर्ण कार्य किए हैं। उन्होंने आडम्बर से रहित होकर धैर्यपूर्वक सेवा की है—श्वास-क्रिया की भांति नैसर्गिक सरलता से। उन्होंने अनेक संकटों का सामना करते हुए जीवन का भार वहन किया है—फूलों से क्रीड़ा करने की भांति।

: ११ :

इस बीच पर्याप्त उन्नति कर लेने वाली बाँकानेर कम्पनी हर वर्ष रुई की फस्ल के समय भड़ौंच आने लगी। जापानी व्यापारियों के भड़ौंच की रुई के व्यापार में हाथ डालने से पहले आधा भड़ौंच रुई की फस्ल पर जीता था। तीन महीने कुछ तुलाई करते, कुछ दलाली करते और कुछ जमादारी करते और इन तीन महीनों की कमाई से बाकी के नौ महीने चैन से गुज़ारते। इन तीन महीनों में पैसे की रेल-पेल होती, थके हुए मन आनन्द खोजते और बाहर से भी लोग रुई लेने या बेचने आते, इसलिए नाटक वालों को अच्छी आमदनी होती थी।

उस समय भड़ौंच में नाटक कम्पनी चलाना मुश्किल काम था। हर हाकिम को जितने चाहिए उतने पास भेजने पड़ते थे। पुलिस वाले तो पास पर जीते ही थे। फिर गाँव में कुछ ऐसे थे, जिनको यदि नाटक वाले न रिझाते तो नाटक एक दिन भी न हो पाता। एक नाटक-मण्डली के मालिक ने एक बड़े बदमाश के बाईस आदमियों को बैठने नहीं दिया था तो बेचारे पर बीच बाज़ार में मार पड़ी थी। यह यशगाथा भड़ौंच की पुस्तक में लिखी हुई है।

उस समय नाटक रात के साढ़े नौ बजे शुरू होते और सवेरे पाँच बजे खत्म होते। अच्छे गानों पर नौ-दस बार 'वन्स मोर' होती और यदि न होती तो नाटक दो कौड़ी का समझा जाता। उसके बाद 'वन्स मोर' वाले गाने गली-गली गाए जाते।

मैं प्रति वर्ष तीन महीने तक बाँकानेर के बालनटों के सम्पर्क में रहता। बालनट क़ैदी-जैसे थे। उनको महीने में तीन-चार रुपये तनख्वाह मिलती और कभी-कभी चाबुक की मार खाकर उन्हें राजा-रानी बनना पड़ता। किसी बाहर के आदमी के साथ बोलने की भी उन्हें छूट न थी; लेकिन मैं तो कम्पनी के सरताज का पुत्र था और उसमें भी डिप्टी कलक्टर का, इसलिए

मुझे उनसे मिलने में कोई रुकावट नहीं थी। मैं रोज़ नाट्यशाला में जाता, नाटक की तैयारी देखता या कुछ छोटे खिलाड़ियों के साथ बैठकर गप्पें मारता। रंगमंच के वातावरण में जादू भरा लगता और मैं रात-दिन इसी विचार में डूबा रहता कि यदि सदा को इन मित्रों के साथ रहने का अवसर मिल जाता तो कितना अच्छा होता। किसी दिन उनके साथ रहना पड़े तो मैं नाटक में पार्ट कर सकूँगा या नहीं, यह देखने के लिए मैं घर आकर अकेला अलग-अलग पात्रों का अभिनय करता।

एक बार बाँकानेर नाटक कम्पनी का नया नाटक 'जगतसिंह' आया। बँगला के उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय की प्रसिद्ध कृति 'दुर्गेशनंदिनी' के आधार पर वह लिखा गया था। उसमें तलवार की पटेबाज़ी हद से ज्यादा थी। दरबारों का ठाट भी अपने उचित स्थान पर दिखाई देता था। वेश्याओं का नृत्य भी था। गरबा भी था और साथ में विदूषक था; उसकी स्त्री की चुहलबाजियाँ भी थीं। कुछ दिन तक इस नाटक ने गुजराती जनता को आत्म-विभोर कर दिया। बम्बई में भी 'जगतसिंह' ने बड़ी ख्याति पाई।

यह नाटक मैंने कितनी ही बार देखा होगा। एक-एक संवाद और गीत मुझे ज़बानी याद हो गए थे। मैं दिन-भर उसके गीतों को गाता रहता और रात को नींद में उसके स्वप्न देखा करता।

कुछ वर्ष हुए जब अपने मित्र डाक्टर कुँवरजी नायक के साथ बैठकर पंचगनी में अतीत काल के स्मृति-कोष को खोला तो हम दोनों को विश्वास हो गया कि गीत हमारी ज़बान से उतरे नहीं हैं।

'जगतसिंह' की नायिका का पार्ट आठ-नौ वर्ष का एक लड़का करता था। उसका कंठ सुरीला था।

'मेरे परम पिता ! करुणा कर सुनना विनती मेरी।

जगत बिना कुछ नहीं जगत में

जगत है जीवन सार रे

पैदा हुई जगत में पाने
जगतसिंह भरतार रे।'

वह गाता—या गाती—तो मेरा हृदय कण्ठ में आ जाता।

और जब वह ललकारता·······

'दुनिया में देखा न किसी ने अद्भुत प्रेम किनारा' तो मेरे नन्हे-से दिल से आह निकल जाती। यदि मैं विलायत में पैदा हुआ होता और वल्लभ विलायती नटी होता तो मैं रोज़ हाथ में फूलों का गुच्छा लेकर नाट्यशाला के पिछले दरवाज़े पर हाज़िर हो जाया करता।

जगतसिंह मेरी भावनामूर्ति था। घोड़े पर बैठकर पर्वतों को पार करके मनोहर सुन्दरी के दर्शन करना, चुपचाप उसके पिता के गढ़ में जाकर उसे प्रणय का पाठ पढ़ाना, दुश्मन पकड़ने के लिए आवें तो अकेले ही अभूतपूर्व पराक्रम दिखाना और अन्त में सब कुछ सहकर मनचाही प्रियतमा पाना—मेरी सृष्टि में उस समय इससे अधिक अपूर्व जीवन के लिए स्थान न था।

जहाँ तक मुझे याद है, दूसरे वर्ष इस मण्डली ने मिसिज़ हेनरी वुड के उपन्यास 'Mrs. Halliburton's Troubles' का रूपान्तर 'संसारी सावित्री' प्रस्तुत किया। हमारे रंगमंच पर सामाजिक नाटक खेलने का यह सफल प्रयास था। वल्लभ सावित्री बना, जगतसिंह उसका पति बना। अब ऐतिहासिक जीवन समकालीन हो गया। मैं इस नाटक में भी तन्मय हो गया।

सावित्री को उसका प्रियतम सम्बोधित करते हुए कहता—

'विद्या पढ़, बनकर चतुर, प्रिय आऊँगा पास।'

सावित्री विश्वास दिलाती—

'प्रभु मिलायँगे, है मुझे यह पक्का विश्वास।'

एक गीत नायक और नायिका दोनों मिलकर गाते। उसकी कुछ पंक्तियाँ तो आज भी मेरे हृदय में रम रही हैं—

'अच्छा बुरा न कुछ प्रेमी को, धन औ' धूल समान।
स्वर्ग-नरक को एक समझता, सुख दुख भी हैं एक,
शत्रु-मित्र कोई न जगत में, सदा प्रेम की टेक।

इन पंक्तियों में उस समय जो आकर्षण था वह वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं ऐसी पंक्तियाँ दिन-भर गाता रहता था, परन्तु संगीत के शौक के कारण नहीं, क्योंकि संगीत मुझे कभी नहीं आया। परन्तु इन पंक्तियों द्वारा मेरे अविकसित हृदय की उमंगें व्यक्त हो जाती थीं। इन पंक्तियों और उठती हुई उमंगों के साथ मैं हँसता, रोता और किसी काल्पनिक सहचरी को पुकारता।

तीसरे वर्ष 'बीकानेर कम्पनी' ने 'नरसिंह मेहता' नामक नाटक का अभिनय करके गुजराती रंगमंच पर भक्तियुग को अवतरित किया।

छोटा त्र्यंबक 'शिवाजी' में 'शिवाजी' का, 'जगतसिंह' में 'वीरेन्द्र' का और 'शैलबाला' में 'चन्द बारोट' का अभिनय करता। लेकिन 'नरसिंह मेहता' का अभिनय करके तो उसने अभिनय कला की पराकाष्ठा कर दी।

'मुझे सदा राजा बनने की आदत थी इसलिए पहले तो मेरे पैर कांपे' बाद में उसने मुझसे कहा था, 'लेकिन जैसे ही मैंने नरसिंह का अभिनय करना आरम्भ किया वैसे ही सांवलिया ने मेरे हृदय में वास किया।'

'नरसिंह मेहता' का अभिनय करने से उसकी गर्वीली मुख-मुद्रा भक्ति-विह्वल बन गई और उसके प्रतापपूर्ण अभिनय में दीनता आ गई; उसका क्रूर हास्य स्नेहाभिलाषी बन गया और उसमें से चारों ओर सरल हृदय की सरस तरंगें प्रसारित होने लगीं; उसकी आँखों में भक्ति का नशा छा गया। हाथ में खड़ताल लेकर, दैन्य-भाव से मुख ऊँचा करके, आँसू-भरी आंखों से वह करुण स्वर में प्रार्थना करता—

'हाथ पकड़ कर छोड़ न देना ओ मेरे सांवरिया!' साँवलिया को सर्वस्व समर्पित करने वाले भक्तश्रेष्ठ के व्यक्तित्व से विस्तृत जादू चारों ओर व्याप्त

हो जाता और प्रेक्षकों के हृदय में भक्ति-भाव उमड़ने लगता। आज भी मेरी कल्पना नरसैंया का जो चित्र बनाती है वह छोटे त्र्यंबक के रंगों से ही पूर्ण होता है।

कई वर्ष पहले जब वह बड़ौदा में सख्त बीमार था मैंने उसे नये रूप में देखा। उसने साँवलिया के साथ स्नेह सम्बन्ध स्थापित कर लिया था और अपने उस 'प्यारे' को रटते-रटते ही उसने शरीर-त्याग किया था।

भक्ति का मूल जातीय आकर्षण में खोजने वाला मैं आज भी इस दृष्टान्त से भक्ति की प्रबलता का अनुमान लगा सकता हूँ।

नाटक के पर्दे के पीछे की सृष्टि के प्रति मेरा आकर्षण अब और भी तीव्र हो गया। खिलाड़ियों की हलचल, पर्दों और दृश्यों की योजना करने वाले मज़दूर, दौड़-धूप करते हुए जमादार, लटकती हुई दाढ़ी को हाथ से पकड़े हुए बुड्ढों के वेष में सुसज्जित जवान, पैरों में अड़ने के डर से तलवार को दो-दो हाथ ऊंचा उठाए फिरने वाले रंगमंच के सूरमा, धोतियों का कछोटा मारे रुई के गाले वाली चोली पहने, आंखों में स्याही का काजल लगाये, सुतली जैसे काले बालों की चोटियों वाले, नंगे सिरों से इधर-उधर फिरने वाले विचित्र प्राणी—यदि ब्रह्मा भी ऐसी सृष्टि की रचना करने बैठते तो उन्हें भी कठिनाई का सामना करना पड़ता।

: १२ :

इन्हीं दिनों मैंने ड्यूमा के 'Three Musketeers' आदि उपन्यास पढ़ने शुरू किए और मेरी आँखों के आगे नई सृष्टि निर्मित होने लगी। सांस लेने की परवाह किए बिना मैं इन उपन्यासों में खो गया। दार्तान्या, अरथोस मिलाडी, ब्राजिलोन, और दला विलिमेर आदि के जीवन से मैंने बार-बार परिचय प्राप्त किया।

लेकिन इस नई सृष्टि की खोज को मैं गुप्त न रख सका। यदि कहा न जाय तो स्वर्ग का देखना भी किस काम का!

बहुत सवेरे दलपतराम के साथ घूमने जाते समय मैं ड्यूमा की इन सभी कथाओं को जैसे मैं समझता और जैसे मुझे वे याद होतीं वैसे ही कह सुनाता।

रात को भी बहुत देर तक इनका ही पारायण होता। मां, बहनें या भानजे कहानियां सुनने के लिए तैयार रहते ही थे। उन्हें भी मैं सभी कहानियां रस के साथ सुनाता। कहीं मैं भूल जाता या मुझे ऐसा मालूम पड़ता कि सुननेवालों को रस नहीं आ रहा है तो मैं उनमें कुछ अपनी ओर से भी मिला देता। यह मेरा आरम्भिक प्रयास था। बाद में तो वर्ष या दो वर्ष के बाद ड्यूमा के उपन्यासों को मैं बार बार पढ़ता था और अपने कुटुम्बियों को बार-बार सुनाता था। इन कथाओं को कहते और अपने श्रोतावृन्द को सुनाते हुए मुझे तनिक भी थकान नहीं होती थी।

बाद में तो ड्यूमा की सृष्टि मेरी ही हो गई। १९२३ में मैंने लुव्र, वेरसाई और फोंटेन्ब्लो देखे—लेकिन एक अपरिचित प्रेक्षक की भांति नहीं, वरन् उसी प्रकार जैसे कोई बहुत वर्षों के बाद बाहर से आने वाला व्यक्ति अपने घरों को देखता है। इन सभी उच्च प्रासादों और उद्यानों में तो मैं अनेक बार घूमा था। ड्यूमा द्वारा सृजित मारगोट से लगाकर नेपोलियन तक के स्वजनों को इनमें घूमते हुए मैं अपनी कल्पना की आँखों से कभी का देख चुका था।

ड्यूमा मेरे लिए एक उपन्यासकार नहीं, कल्पना सृष्टि का विधाता है। उसके ऋण को मैंने कभी अस्वीकार नहीं किया। मैंने ड्यूमा की कथाओं का अनुवाद किया है, उसकी कला का अनुकरण किया है, आदि आक्षेप मेरे ऊपर लगाये गए हैं और इन आक्षेपों में निहित सत्य को मैंने सदैव स्वीकार किया है।

उपन्यास लिखने की कला में ड्यूमा मेरा गुरु है। नया चित्रकार अपने गुरु के अमर चित्रों की रेखाओं को हृदयंगम करके चित्रकारी सीखता है। नया कवि किसी महाकवि की रसमयता और शब्द प्रयोग को दृष्टि में रखकर काव्य-रचना करता है। इसी प्रकार ड्यूमा की कला के परिचय से मेरे भीतर बचपन से छिपी रहने वाली कथाकार की कला को स्वरूप मिला, तेज मिला, प्रेरणा मिली। मैंने निश्चयपूर्वक न तो उसकी कृतियों का अनुवाद किया है और न उसके पात्र या कथावस्तु का अनुकरण किया है, लेकिन तो भी ड्यूमा की कला का प्रभाव मेरी कृतियों में से गया नहीं है।

कड़ी-से-कड़ी कसौटी लीजिए। कथा वस्तु की रोचकता, संगठन या विविधता का मापदण्ड स्थिर कीजिए, पात्रों के वैविध्य और सजीवता को कला का अंग समझिए, संवाद कौशल, सचोटता और नाटकीयता को साहित्य का मुख्य तत्व मानिए, प्रसंग योजना और अद्भुतता को उपन्यास का प्राण ठहराइए तो ड्यूमा की कला किसी भी साहित्य महारथी की कला से हेठी न ठहरेगी। निरन्तर रस पैदा करने की शक्ति—जो कथा का प्राण है—को यदि मापदण्ड माना जाय तो विश्व-साहित्य में कथा सम्राट का मुकुट ड्यूमा को ही पहनाना पड़ेगा। यदि कोई इतना भी मानता है कि ऐसे साहित्य महारथी की कला की परमज्योति से अपने घर का दीपक जलाकर मैंने गुजराती साहित्य को तनिक भी प्रकाश दिया है तो मैं अपने श्रम को सफल समझूंगा।

: १३ :

सन् १६०० के बाद टीले की शान बढ़ी। पिताजी डिप्टी कलक्टर होकर घर आये। अधुभाई काका भी डाकोर से रिटायर होकर लौटे।

सवेरे-शाम बड़े-बड़े आदमी मिलने आने लगे। म्यूनिसिपैलिटी ने सड़कों की सफ़ाई कर लालटेनों में तेल डालना शुरू कर दिया। नौकर, रसोइया

और गवैयों की दौड़-धूप होने लगी। बड़े काका और बूआ चुप हो गए।

इतने में ही छप्पनियां अकाल आया। बागरा ताल्लुका में नेकल आ विचित्र रूप धारण किया। वह पिताजी के हलके में था, इसलिए उन्हें बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी।

उस समय का मुझे एक ही दृश्य याद है····

एक बार मैं पिताजी के साथ गाड़ी में आ रहा था। रास्ते में कुछ पड़ा हुआ था। पिताजी ने कहा—'कनु, मेरी गोदी में मुंह छिपा ले।'

'क्यों पिताजी?'

'तुम्हारे देखने योग्य नहीं।'

'मैं आँखें मीचे लेता हूँ,' कहकर मैंने आँखों पर हाथ रख लिये, परन्तु मन न माना इसलिए अँगुलियों को थोड़ा चौड़ा करके यह देखने का प्रयत्न किया कि वह क्या वस्तु है।

हमारी गाड़ी के आगे रास्ते में दो-चार मुर्दे पड़े थे। पहले तो मैं समझा नहीं, परन्तु जब गाड़ी उन्हें बचाकर आगे निकली तो मैंने पीछे देखा।······· एक स्त्री का शव रास्ते में पड़ा था और उसके हाथ में कुछ था। पहले जो बात मेरी समझ में नहीं आई थी वही गाँव में जाकर मेरी समझ में तब आई जब पिताजी ने पुलिस के दीवान को उन शवों के हटाने का हुक्म दिया। माँ ने मरते समय अपने बालक के शव द्वारा भूख मिटाने का प्रयत्न किया था।

चारों ओर लोग 'अकाल' 'अकाल' चिल्ला रहे थे, परन्तु मैंने जो अकाल का भयंकर स्वरूप देखा था वह बहुत दिनों तक मेरी आँखों से दूर नहीं हुआ।

पिताजी दिन-रात अकाल से लोगों को बचाने के काम में लगे रहते। कभी-कभी वे सवेरा होने से पहले ही घोड़े पर चले जाते। कितनी ही बार माँ मुझे सुलाकर बारह या दो बजे तक चिन्तातुर वदन से उनके आने की बाट देखती रहती।

एक दिन पिताजी बुखार लेकर आये। वे रात को देर से आये थे और आँखों में सूजन थी। दूसरे दिन बुखार बढ़ा, सूजन छाती पर आई और वे बेहोश होने लगे। उन्हें किसी की छूत लग गई थी। डाक्टरों पर डाक्टर आये, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ और कोई न तो रोग का पता लगा सका और न उपाय ही बता सका। हमारी चिन्ता की सीमा न थी।

अन्त में सिविल सर्जन ने इस रोग कोर तवा—एरीसपेलिस—का नाम दिया। पिताजी तो बेहोश पड़े थे। कभी-कभी सन्निपात में वे कुछ बड़-बड़ाते थे। सर्जन ने आपरेशन किया। बाँयें कान के पास बड़ा-सा चीरा लगाया और मवाद निकाला। थोड़े दिन बाद दूसरी ओर चीरा लगाया। पिताजी महीनों तक जीवन और मरण के बीच झूलते रहे।

माणिक मुन्शी मृत्यु के किनारे पड़े थे। अंग्रेजी और देशी हाकिम तथा गाँव और जाति के जान-पहचान के आदमी आते थे। सबको ऐसा लगता था कि वे आज या कल चल बसेंगे। माँ, बहनें और मैं थर-थर काँपते थे।

एक दिन शाम को तो ऐसा लगा कि पिताजी आज की रात पार नहीं कर सकते। मां बैठी-बैठी आँसू बहा रही थी। मैं एक ओर बैठा-बैठा घुटा जा रहा था। लकड़ी टेकते हुए अपाहिज बड़े काका वर्षों का वैर भुलाकर छोटे भाई का मुंह देखने आये। बड़े काका जैसे-तैसे कुरसी पर बैठे और बेहोश पिताजी की ओर देखने लगे। बिना कुछ बोले हुए उन्होंने मुझे पास बुलाया; मैं घबराता हुआ गया और पास जाकर खड़ा हो गया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ रखा,.........और सिसकी भरकर रोने लगे। अनुभवी और जमाना देखे हुए वे वृद्ध बड़े काका स्वभाव छोड़कर उस समय स्नेहोर्मियों से पवित्र हो गए।

कुछ समय बीता और जाति की स्त्रियाँ आने लगीं। भयंकर छबीबा धीरे से आई, एक कोने में बिना बोले बैठी और चली गई। उसके हृदय में क्या हो रहा था यह कौन कह सकता है।

रात हुई। मैंने भयंकर क्रन्दन सुना। वह क्या है, यह जानन से पहले ही मेरी बड़ी बहनें मन्दिर में चली गईं। महादेवजी के आगे मस्तक झुकाए मेरी मां उनसे प्रार्थना कर रही थीं कि वे उसे पति से पहले इस संसार से उठा लें।

वह भयंकर रात थी। मेरी बहनें एक-एक करके महादेवजी के आगे जाकर विनती कर आईं कि 'पिताजी को बचाकर उनके बदले हमें ले लो।'

हम बैठक में पिताजी के पास बैठे रहे। वे बेहोश पड़े हुए सन्निपात में कुछ बड़बड़ा रहे थे। मुझे लगा कि महादेवजी पिताजी को ले लेना चाहते हैं और मां तथा बहनों के बदले उन्हें जिलाना नहीं चाहते। लेकिन यदि मुझे लेकर पिताजी को जिला दें तो! मुझे चन्द्रशेखर में पूरी श्रद्धा थी और मेरा विश्वास था कि वे मेरी विनती को अस्वीकार नहीं करेंगे। मैं धीरे से मन्दिर में गया। अंडी के तेल का दीया जल रहा था। मैं पिताजी को बचाने की इच्छा से सदा शिवकवच का पाठ करता था। इस समय मैंने फिर वह पाठ किया और माथा जमीन पर टेककर प्रार्थना की—'भगवान! यदि चाहो तो मुझे ले लो पर मेरे पिताजी को बचाओ।'

चन्द्रशेखर उदार हृदय के थे। उन्होंने न हम में से किसी को लिया और न पिताजी को ही लिया।

: १४ :

पिताजी अच्छे हो गए, परन्तु अपने जीवन पर से उनका विश्वास उठ गया और उनकी इच्छा हुई कि अपने एकमात्र पुत्र का विवाह कर दें।

मैं तेरह वर्ष का था और हाल ही में मैट्रिक में आया था। मेरी होने वाली पत्नी नौ वर्ष की थी पर पाँच वर्ष की दिखाई देती थी।

मुझे विवाह करना अच्छा नहीं लगता था। एक तो यह बात थी कि मैंने एक बालसखी के साथ विवाह करने का निश्चय किया था और दूसरे मेरी होने

वाली पत्नी उम्र और क़द में बहुत छोटी थी। लेकिन दोनों में से एक भी बात ऐसी न थी जो कही जा सकती। कारण, मैं पिताजी की इच्छा का सदा आदर करता था।'

घर रँगा गया, चँदोवा ताना गया, नौबत बजने लगी, हंडे और झाड़-फानूस जलने लगे, सन्ध्या और प्रभाती गाए जाने लगे। इसी समय विक्टोरिया की मृत्यु हुई थी, इसलिए वेश्या का नृत्य स्थगित रखा गया।

लग्न का मुहूर्त शाम का था। झँगा, पगड़ी और दुपट्टा पहनकर, घोड़े पर चढ़कर, तलवार कन्धे पर रखकर, शुभ शकुनों के बीच गाते-बजाते मैं वैरी जीतने के लिए निकला।

मेरी भावी पत्नी लग्न के समय के कपड़े पहनकर मेरे सामने आकर बैठी। 'शुभ लग्न सावधान' बोला गया और हमारा हस्तमिलाप हुआ। रात को एक बजे मैं जुलूस के साथ पत्नी लेकर घर की ओर चला।

जिस रास्ते से जुलूस गुज़रा उस पर स्थान-स्थान पर आतिशबाज़ी छोड़ी गई। मैं पालकी में हारा-थका, जैसे-तैसे सिर की पगड़ी को सँभालता, पान चबाता बैठा था। मेरी धर्मपत्नी तो जुलूस के आरम्भ से ही झोंके खा रही थी। उसके साथ बात करने की लालसा मन में ही रह गई। जब जुलूस समाप्त हुआ तो वह खुर्राटे भरकर सो रही थी।

मां के जीवन में यह समय निश्चय ही सुख का था। दो विधवा लड़कियाँ भी अपनी विपत्ति भूलने लगी थीं; उनके लड़के भी मां के हाथों ही पल रहे थे; तीसरी लड़की अपनी ससुराल में सुखी थी; सबसे पीछे के लड़के का विवाह हो गया था; इसलिए मां को अपने राजा जैसे पति के साथ आराम से बैठने का अवसर मिला।

मां का हिसाब लिखा जाता रहा। रामस्तवराज स्तोत्र बोला जाता रहा। निराश्रित लड़कियों के जीवन में रस-संचार के लिए कहानियाँ लिखने, रूमाल काढ़ने और चित्र अंकित करने का काम भी चलता रहा।

इस समय मैं माँ के निकट आया। रात को पिताजी खाना खाकर ऊपर जाते। बाद में बर्तन मंजते जाते और खट-खट होती जाती। उस समय मैं दिन-भर के अपने अनुभवों को कहता और मां तथा बहनें उन्हें सुनती जातीं। मैं उनसे भूमिति के सिद्धान्तों, आठवें हेनरी की स्त्रियों, अफ्रीका की नदियों आदि नये सीखे हुए विषयों के सम्बन्ध में बातें करता। मां में अपूर्व श्रोता की कला थी। मंद-मंद हंसकर सवाल पूछतीं, मेरे जवाब देने के प्रयत्नों को बिना अधीर हुए सफल बनाने की चेष्टा करतीं और मैं जो कुछ कहता उसे सहृदयता से समझने का प्रयत्न करतीं। महाभारत और रामायण की कथायें उन्हें जबानी याद थीं। इसलिए कभी उनके प्रसंगों को सुनातीं और कभी याद किये हुए आख्यानों में से कुछ कह देतीं।

अपने साक्षात प्रपितामह चन्द्रशेखर महादेव की भक्ति हमारी बातचीत का ऐसा विषय था जो कभी समाप्त ही नहीं होता था। करसनदास मुन्शी ने उसे भक्ति-भाव से स्थापित किया था; निरभेराम मुन्शी ने उसे अपने हाथों पूजा था, उसके लिए टीले की टेक और संस्कार स्थिर रहते थे। पिताजी १८७४ से प्रति श्रावण मास में उसकी रुद्री कराते थे। उनकी कृपा से मैं पैदा हुआ था। उनको अपने हिस्से में लेने के लिए पिताजी ने बड़ा भारी श्रम किया था। पिताजी ने उनका उद्धार किया था। साथ ही उन्होंने बिना उनके दर्शन किये भोजन न करने का व्रत लिया था।

चन्द्रशेखर की भक्ति करने और कराने में मां को बड़ा अनन्द आता था। पिताजी ने सवा लाख बेलपत्रों द्वारा विधिपूर्वक महादेवजी की पूजा कराई। मेरी एक बहन ने एक वर्ष तक सांथिया पूरने का व्रत लिया। मैं भी सध्या समय शिवकवच का पाठ करने लगा और यह क्रम डेढ़ वर्ष तक चला। मैं स्वयं रुद्री कर सकूँ, इसके लिए मैंने दलपराम से स्वर के साथ पुरुषसूक्त का पाठ करना सीखा।

हमारे चन्द्रशेखर का लिंग पूर्णिमा को गौरवर्ण का हो जाता है और

अमावस्या को श्याम वर्ण का बन जाता है, यह हमारे कुटुम्ब की मान्यता थी। यह मान्यता सच है या नहीं, इस बात की जाँच का हमने स्नान-ध्यान करके अनेक वार प्रयत्न किया था और हमें यह विश्वास हो गया था कि यह मान्यता सच है।

मैं शिवकवच पढ़ता, रुद्री करता, महादेवजी के आगे हृदय खोलकर रखता। 'जय सोमनाथ' की नायिका चौला की शिव भक्ति के बीज मेरे इन संस्कारों में निहित जान पड़ते हैं।

मैंने श्रद्धा और अश्रद्धा की अनेक श्रेणियाँ पार की हैं और इस आधार पर मैं स्पष्ट रूप से यह कह सकता हूँ कि इस प्रकार की किसी जीवित सामुदायिक भक्ति के बिना परिवार के लोगों की उमंगों का शुद्धीकरण और उन के व्यक्तित्व का अन्योन्याश्रित विकास सम्भव नहीं है।

पूर्वजों द्वारा प्रचलित इस मान्यता के विरुद्ध मैंने सजग विद्रोह किया। मेरी डायरी में एक स्थान पर टूटी-फूटी अँग्रेज़ी में लिखा है—

'भड़ौंच हाई स्कूल के हेड मास्टर सी० एन० कॉन्ट्रेक्टर ने 'रेफर्मेशन' (यूरोपीय धार्मिक पुनरुत्थान) पर एक सुन्दर भाषण दिया। उसका मेरे विचारों पर भारी प्रभाव पड़ा। मैं रात-भर चिन्तन करता रहा। मैं कुछ-कुछ रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुसार चलता था। ईश्वर तो किसी भी भाषा में प्रार्थना सुन सकता है। उसे संस्कृत ही क्यों चाहिए? अब मैं संस्कृत में संध्या के स्थान पर गुजराती में संध्या करूँगा।' (२१-३-१६०१)

जैसे ही यह नया दृष्टिकोण मेरे मस्तिष्क में आया वैसे ही मैंने मां से इसकी चर्चा की। उसने स्वीकार किया कि मेरी इस नई बात में भी तथ्य है। मैंने एक संस्कृत जानने वाले की सहायता से संध्या का गुजराती अनुवाद कर डाला। मैं रोज उसे पढ़कर सुनाता। उसके कहने से मैंने 'रामस्तव राज स्तोत्र' का भी जैसा मुझे आता था वैसा अनुवाद किया।

थोड़े दिन तक यह अनुवाद की हवा चली। लेकिन मैट्रिक में खगोल

विद्या भी पढ़ाई जाती थी । इस कारण गुजराती में सूर्य को अर्घ्य देने में कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं । मां ने भोलानाथ साराभाई की 'ईश्वर प्रार्थना' की एक पुरानी पुस्तक निकाली । बहुत दिन पहले उसने अहमदाबाद में जो कुछ प्रार्थनाएँ याद की थीं उन्हें गाकर सुनाया । मेरी बहनों को भी कुछ प्रार्थनाएँ आती थीं ।

मेरी इस डायरी से थोड़े दिन बाद की मेरी मनोदशा का पता चलता है—

'संध्या का स्वाँग मुझे कब तक करना पड़ेगा ? इसमें कहा गया है कि सूर्य धर्म, अर्थ और मोक्ष के लिए तेज देता है और खगोल विद्या कहती है कि सूर्य एक ज्वलन्त नक्षत्र है । स्थूल पदार्थ का उपकार मानने में कोई तुक नहीं । मुझे तो इसके भी स्रष्टा निरंजन निराकार की पूजा करनी चाहिए ।'

(२६-३-१६०१)

कुछ महीने बाद की मेरी डायरी के शब्द हैं—

'आज निश्चय किया कि नैतिक बल संजोना है और नीति के अनुकूल चलना है । 'प्राणाघातान्निवृत्तिः' वाले श्लोक के मर्म को हृदयंगम कर उसीके अनुकूल जीवन बनाना है ।' (६-१०-१६०१)

मैंने संध्या, शिवकवच और रुद्री छोड़ दिए । और मैट्रिक की परीक्षा देने अहमदाबाद गया तो 'ईश्वर प्रार्थना माला' ले आया । इस समस्त विकास में मां ने मुझे पूरी-पूरी सहायता दी थी । वह हिन्दू संस्कृति के समान थी । जहाँ तक मौलिक सिद्धान्त स्थिर बने रह सकें वहाँ तक वह सभी परिवर्तनों को स्वीकार कर सकती थी ।

: १५ :

पिताजी की भक्ति भी हम सबको एक सूत्र में बाँध लेती । मां घर की व्यवस्था करती और सबकी देखभाल करती, परन्तु पिताजी तो देवता थे; उन्हें रिझाना और उनके प्रति पूज्य भाव रखना हमारा प्रमुख कर्तव्य था । इस धर्म को मां सिखाती थी, परन्तु अपने लाक्षणिक ढँग से—आचरण द्वारा ।

अमावस्या को श्याम वर्ण का बन जाता है, यह हमारे कुटुम्ब की मान्यता थी। यह मान्यता सच है या नहीं, इस बात की जाँच का हमने स्नान-ध्यान करके अनेक वार प्रयत्न किया था और हमें यह विश्वास हो गया था कि यह मान्यता सच है।

मैं शिवकवच पढ़ता, रुद्री करता, महादेवजी के आगे हृदय खोलकर रखता। 'जय सोमनाथ' की नायिका चौला की शिव भक्ति के बीज मेरे इन संस्कारों में निहित जान पड़ते हैं।

मैंने श्रद्धा और अश्रद्धा की अनेक श्रेणियाँ पार की हैं और इस आधार पर मैं स्पष्ट रूप से यह कह सकता हूँ कि इस प्रकार की किसी जीवित सामुदायिक भक्ति के बिना परिवार के लोगों की उमंगों का शुद्धीकरण और उन के व्यक्तित्व का अन्योन्याश्रित विकास सम्भव नहीं है।

पूर्वजों द्वारा प्रचलित इस मान्यता के विरुद्ध मैंने सजग विद्रोह किया। मेरी डायरी में एक स्थान पर टूटी-फूटी अँग्रेज़ी में लिखा है—

'भड़ौंच हाई स्कूल के हेड मास्टर सी० एन० कॉन्ट्रेक्टर ने 'रेफर्मेशन' (यूरोपीय धार्मिक पुनरुत्थान) पर एक सुन्दर भाषण दिया। उसका मेरे विचारों पर भारी प्रभाव पड़ा। मैं रात-भर चिन्तन करता रहा। मैं कुछ-कुछ रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के अनुसार चलता था। ईश्वर तो किसी भी भाषा में प्रार्थना सुन सकता है। उसे संस्कृत ही क्यों चाहिए? अब मैं संस्कृत में संध्या के स्थान पर गुजराती में संध्या करूँगा।' (२१-३-१६०१)

जैसे ही यह नया दृष्टिकोण मेरे मस्तिष्क में आया वैसे ही मैंने मां से इसकी चर्चा की। उसने स्वीकार किया कि मेरी इस नई बात में भी तथ्य है। मैंने एक संस्कृत जानने वाले की सहायता से संध्या का गुजराती अनुवाद कर डाला। मैं रोज उसे पढ़कर सुनाता। उसके कहने से मैंने 'रामस्तव राज स्तोत्र' का भी जैसा मुझे आता था वैसा अनुवाद किया।

थोड़े दिन तक यह अनुवाद की हवा चली। लेकिन मैट्रिक में खगोल

विद्या भी पढ़ाई जाती थी। इस कारण गुजराती में सूर्य को अर्घ्य देने में कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। मां ने भोलानाथ साराभाई की 'ईश्वर प्रार्थना' की एक पुरानी पुस्तक निकाली। बहुत दिन पहले उसने अहमदाबाद में जो कुछ प्रार्थनाएँ याद की थीं उन्हें गाकर सुनाया। मेरी बहनों को भी कुछ प्रार्थनाएं आती थीं।

मेरी इस डायरी से थोड़े दिन बाद की मेरी मनोदशा का पता चलता है—

'संध्या का स्वाँग मुझे कब तक करना पड़ेगा? इसमें कहा गया है कि सूर्य धर्म, अर्थ और मोक्ष के लिए तेज देता है और खगोल विद्या कहती है कि सूर्य एक ज्वलन्त नक्षत्र है। स्थूल पदार्थ का उपकार मानने में कोई तुक नहीं। मुझे तो इसके भी स्रष्टा निरंजन निराकार की पूजा करनी चाहिए।'

(२६-३-१६०१)

कुछ महीने बाद की मेरी डायरी के शब्द हैं—

'आज निश्चय किया कि नैतिक बल संजोना है और नीति के अनुकूल चलना है। 'प्राणाघातान्निवृत्तिः' वाले श्लोक के मर्म को हृदयंगम कर उसीके अनुकूल जीवन बनाना है।' (६-१०-१६०१)

मैंने संध्या, शिवकवच और रुद्री छोड़ दिए। और मैट्रिक की परीक्षा देने अहमदाबाद गया तो 'ईश्वर प्रार्थना माला' ले आया। इस समस्त विकास में मां ने मुझे पूरी-पूरी सहायता दी थी। वह हिन्दू संस्कृति के समान थी। जहाँ तक मौलिक सिद्धान्त स्थिर बने रह सकें वहाँ तक वह सभी परिवर्तनों को स्वीकार कर सकती थी।

: १५ :

पिताजी की भक्ति भी हम सबको एक सूत्र में बाँध लेती। मां घर की व्यवस्था करती और सबकी देखभाल करती, परन्तु पिताजी तो देवता थे; उन्हें रिझाना और उनके प्रति पूज्य भाव रखना हमारा प्रमुख कर्तव्य था। इस धर्म को मां सिखाती थी, परन्तु अपने लाक्षणिक ढंग से—आचरण द्वारा।

वह स्वयं सती है या हमें पितृभक्त होना चाहिए, ऐसा न तो उसने किसी दिन कहा और न कहलवाया। परन्तु पिताजी की परिचर्या करना ही उसके ध्यान का पहला विषय था।

हम यदि किसी बात के लिए मां के पास आज्ञा लेने के लिए जाते तो एक ही जवाब मिलता—'पिताजी से पूछ देखना।' यह दूसरी बात कि फिर पिताजी चाहे वही करते जो मां कहती। हमें ताड़ना मिलती तो केवल इतनी ही कि 'पिताजी को यह पसन्द नहीं।' या 'पिताजी क्या कहेंगे?' हमें नहलाना-धुलाना होता या हमसे कोई काम कराना होता तो भी वही उपाय—'उठो, अभी पिताजी आते होंगे?' हममें से कोई बीमार होता तो भी यही आश्वासन—'पिताजी आयेंगे तो सिर दर्द मिट जायगा।'

इस प्रकार मां की पितृभक्ति सृजनात्मक थी। उसके द्वारा उसने अभेद्य कुटुम्ब जाल रचा था। इस सृष्टि में रहते-रहते हमने पितृभक्ति के पाठ पढ़े।

पिताजी शरीर से मोटे और ठिगने थे। उनका रंग गोरा और गुलाबी था। उनके मुख पर सदैव ऐसा राज्य सत्ता के तेज को व्यक्त करने वाला गौरव झलका करता था। उनकी आँखें सदा डरातीं। उनके पास आते ही उन्हें देखकर भय लगता। उनके तेजपूर्ण शरीर पर स्वच्छ और ढंग से पहने हुए कपड़े सदा शोभित होते रहते थे। वे जहाँ जाते वहाँ ही अपना प्रभाव छोड़ आते थे।

उनका स्वभाव उग्र था। यह समझना मुश्किल था कि वे कब और किस कारण गुस्से हो जायँगे। वे जब गुस्से होते तो उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगतीं, मुँह लाल हो जाता और उनकी प्रचण्ड आवाज़ से दीवारें काँपने लगतीं। एक दिन नये मन्दिर के आगे एक कथावाचक पंडित कथा बाँच रहे थे। उस समय पिताजी और मैं तीसरी मंजिल के छज्जे पर बैठे कथा सुन रहे थे। उसी समय नीचे रास्ते पर किसी लड़के ने कुछ ऊधम

किया—क्या किया यह याद नहीं। इससे पिताजी गुस्से हुए, खड़े हुए और खूंटी से हण्टर उतार कर नये मंदिर के आगे पहुँचे और उस ऊधमी लड़के की खूब खबर ली।

साधारणत: पिताजी जो कुछ कहते उसके विरुद्ध किसी से एक अक्षर भी नहीं कहा जाता। हाँ, माँ ही कभी-कभी उन्हें धीरे-से समझा सकती थी। कोई सामने पड़ता तो उसे अपने उग्र प्रताप से निष्प्रभ करने की अपनी वृत्ति को वे रोक नहीं सकते थे। जिनके साथ अच्छा सम्बन्ध होता उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करते। न तो उन्हें किसी को खुश करना आता था और न उन्हें यह पसन्द ही था।

वे जैसे उग्र थे वैसे ही साहसी भी थे। वे घोड़े पर सवारी करना जानते थे; बन्दूक और तलवार चला सकते थे। काम पड़ने पर पन्द्रह मील तक चल सकते थे। कितने ही वर्ष तक उन्होंने बीमारी का नाम भी नहीं जाना था।

उनका हृदय शीशे की तरह साफ़ था। उनके क्रोध के उफ़ान को शान्त होने में देर नहीं लगती थी। उनकी निष्कपटता अव्यावहारिक थी। कोई पास आता तो वे झट सारी बात साफ़-साफ़ कह देते। कपट, धोखेबाजी और झूठ से उन्हें घृणा थी। किसी तिकड़मी से यदि उन्हें अकेले काम पड़ता तो वे झट उसके चक्कर में फँस जाते। कोई सफ़ाई से बात करता तो ठगे भी जाते। परन्तु ऐसे अवसरों पर माँ घर बैठे-बैठे सब बातें जान लेती और सब-कुछ ठीक करने का प्रयत्न करती। बहुत बार माँ पिताजी से विनती करती कि जाति की पंचायत में प्रतिपक्षी से कुछ अधिक न कह देना। लेकिन उन पर इसका तनिक भी असर न होता। वे विरोधी से सब कुछ कह देते और पूछते—'क्या मैंने चोरी की है, जो चुप रहूँ?'

उनकी ईमानदारी सन्देह के परे की वस्तु थी। उस युग में लोकमत का बल नहीं था और अधिकारी को राजा के समान माना जाता था। अनुचित

वह स्वयं सती है या हमें पितृभक्त होना चाहिए, ऐसा न तो उसने किसी दिन कहा और न कहलवाया। परन्तु पिताजी की परिचर्या करना ही उसके ध्यान का पहला विषय था।

हम यदि किसी बात के लिए मां के पास आज्ञा लेने के लिए जाते तो एक ही जवाब मिलता—'पिताजी से पूछ देखना।' यह दूसरी बात कि फिर पिताजी चाहे वही करते जो मां कहती। हमें ताड़ना मिलती तो केवल इतनी ही कि 'पिताजी को यह पसन्द नहीं।' या 'पिताजी क्या कहेंगे?' हमें नहलाना-धुलाना होता या हमसे कोई काम कराना होता तो भी वही उपाय—'उठो, अभी पिताजी आते होंगे?' हममें से कोई बीमार होता तो भी यही आश्वासन—'पिताजी आयँगे तो सिर दर्द मिट जायगा।'

इस प्रकार मां की पितृभक्ति सृजनात्मक थी। उसके द्वारा उसने अभेद्य कुटुम्ब जाल रचा था। इस सृष्टि में रहते-रहते हमने पितृभक्ति के पाठ पढ़े।

पिताजी शरीर से मोटे और ठिगने थे। उनका रंग गोरा और गुलाबी था। उनके मुख पर सदैव ऐसा राज्य सत्ता के तेज को व्यक्त करने वाला गौरव झलका करता था। उनकी आँखें सदा डरातीं। उनके पास आते ही उन्हें देखकर भय लगता। उनके तेजपूर्ण शरीर पर स्वच्छ और ढंग से पहने हुए कपड़े सदा शोभित होते रहते थे। वे जहाँ जाते वहाँ ही अपना प्रभाव छोड़ आते थे।

उनका स्वभाव उग्र था। यह समझना मुश्किल था कि वे कब और किस कारण गुस्से हो जायँगे। वे जब गुस्से होते तो उनकी आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगतीं, मुँह लाल हो जाता और उनकी प्रचण्ड आवाज़ से दीवारें काँपने लगतीं। एक दिन नये मन्दिर के आगे एक कथावाचक पंडित कथा बाँच रहे थे। उस समय पिताजी और मैं तीसरी मंजिल के छज्जें पर बैठे कथा सुन रहे थे। उसी समय नीचे रास्ते पर किसी लड़के ने कुछ ऊधम

किया—क्या किया यह याद नहीं। इससे पिताजी गुस्से हुए, खड़े हुए और खूँटी से हण्टर उतार कर नये मंदिर के आगे पहुँचे और उस ऊधमी लड़के की खूब खबर ली।

साधारणतः पिताजी जो कुछ कहते उसके विरुद्ध किसी से एक अक्षर भी नहीं कहा जाता। हाँ, माँ ही कभी-कभी उन्हें धीरे-से समझा सकती थी। कोई सामने पड़ता तो उसे अपने उग्र प्रताप से निष्प्रभ करने की अपनी वृत्ति को वे रोक नहीं सकते थे। जिनके साथ अच्छा सम्बन्ध होता उनके साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार करते। न तो उन्हें किसी को खुश करना आता था और न उन्हें यह पसन्द ही था।

वे जैसे उग्र थे वैसे ही साहसी भी थे। वे घोड़े पर सवारी करना जानते थे; बन्दूक और तलवार चला सकते थे। काम पड़ने पर पन्द्रह मील तक चल सकते थे। कितने ही वर्ष तक उन्होंने बीमारी का नाम भी नहीं जाना था।

उनका हृदय शीशे की तरह साफ़ था। उनके क्रोध के उफ़ान को शान्त होने में देर नहीं लगती थी। उनकी निष्कपटता अव्यावहारिक थी। कोई पास आता तो वे झट सारी बात साफ़-साफ़ कह देते। कपट, धोखेबाजी और झूठ से उन्हें घृणा थी। किसी तिकड़मी से यदि उन्हें अकेले काम पड़ता तो वे झट उसके चक्कर में फँस जाते। कोई सफ़ाई से बात करता तो ठगे भी जाते। परन्तु ऐसे अवसरों पर माँ घर बैठे-बैठे सब बातें जान लेती और सब-कुछ ठीक करने का प्रयत्न करती। बहुत बार माँ पिताजी से विनती करती कि जाति की पंचायत में प्रतिपक्षी से कुछ अधिक न कह देना। लेकिन उन पर इसका तनिक भी असर न होता। वे विरोधी से सब कुछ कह देते और पूछते—'क्या मैंने चोरी की है, जो चुप रहूँ?'

उनकी ईमानदारी सन्देह के परे की वस्तु थी। उस युग में लोकमत का बल नहीं था और अधिकारी को राजा के समान माना जाता था। अनुचित

लाभ उठाने के अवसर उन्हें बहुत-से मिले थे। खर्चीले स्वभाव के होने से वे रुपया भी अधिक नहीं बचा सके। इतना होने पर भी कभी उनका मन विचारों में भी विचलित हुआ हो, यह मैंने नहीं जाना। वे बार-बार अपने पुराने सूत्र को दुहराते—'जब चार हाथ का स्वामी देगा तो दो हाथों से सँभाला भी न जा सकेगा और जब वह लेना चाहेगा तो दो हाथ कितना बचा पावेंगे ?'

उनका हृदय बड़ा कोमल था। वह बहुत हँसते-हँसाते न थे, परन्तु मधुर विनोद और गौरवपूर्ण प्रसन्नता उनकी बातों की प्रमुख विशेषताएँ थीं। उनके समय और शिक्षा को देखते हुए वे बहुत अच्छी गुजराती और अँग्रेजी लिखते और बोलते थे।

पिताजी और माताजी का दाम्पत्य-जीवन आदर्श था। उन दोनों के जैसा विश्वासपूर्ण और स्नेहमय मैंने उस युग के पति-पत्नियों में नहीं देखा। पिताजी कमाकर लाते और माँ घर की व्यवस्था करती। पिताजी घर आते और सारे दिन की सुख-दुख की बातें करने लगते। माँ सब कुछ व्यवस्था कर लेती, परन्तु पिताजी की आज्ञा बिना उस पर अमल न करती। पढ़ने या बाहरी कामों में जो कुछ आता उसे पिताजी माँ से कहते और वह अँग्रेजी कहानी से लेकर जेल के काम-धन्धे तक प्रत्येक वस्तु में रस लेती। प्रत्येक सांसारिक कार्य को करती माँ, पर उसका यश देती पिताजी को। पिताजी भी सब काम करते थे पर बिना माँ से पूछे शायद ही करते हों। यदि उनसे कुछ काम बिगड़ जाता था तो माँ एक शब्द भी कहे बिना उसका दोष अपने ऊपर ले लेती थी। पिताजी से हम प्रेम भी अधिक करते थे। यदि उन्हें तेज़ बुखार आ जाता और वे घर में पैर रखते तो ऐसा लगता जैसे बुखार उतर गया हो।

मैंने चिरकाल तक उनके साथ बैठकर भोजन करने में आनन्द का अनुभव किया। पिताजी शायद ही कभी हमसे नाराज होते थे। माँ भी हमारे

लिए पिताजी के डर को छोड़कर दूसरे किसी भी शास्त्र का उपयोग नहीं करती थीं।

इस सब में व्याप्त कला दोनों में से किसकी थी—माँ की, पिताजी की या दोनों की, यह कहा नहीं जा सकता। मां को छोड़कर पिताजी का कोई मित्र नहीं था और माँ की कोई सहेली है, यह मेरी जानकारी में नहीं। दोनों एक-दूसरे को छोड़कर किसी की सहायता नहीं मांगते थे और परवाह भी नहीं करते थे।

: १६ :

भड़ौंच के हाईस्कूल के असिस्टेंट मास्टर उत्तमराम मुझमें अधिक रुचि रखते थे। उनमें अनेक प्रकार की विचित्रताएँ भरी थीं, तो भी उनका जीवन एक प्रकार से उल्लेखनीय था। अपने स्वभावगत क्षोभ को जीतने का सतत प्रयास जैसे उनमें मूर्तिमान हो गया था।

वे हमारी जाति के आरम्भिक ग्रेज्युएटों में से एक थे। पढ़ने के दिनों में यह धर्मचुस्त और रूढ़िवादी विद्यार्थी अपने पाठ याद करके तुरन्त पास के लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाते और वहां देवता के निकट हाथ जोड़कर याद किये हुए पाठ को सुना जाते। साथ ही नित्य प्रति ऐसी प्रार्थना करते कि वे कक्षा में प्रथम आवें और अन्य विद्यार्थी उनसे पीछे रहें।

उनकी बहुत-सी आदतें अत्यधिक क्षोभ के कारण बनी थीं। वे चलते थे—सदा सड़क के बाईं ओर के किनारे पर—पानी के प्रवाह की भाँति; मानो बहे जा रहे हों। वे बोलते भी बड़ी तेजी से थे। कक्षा में लड़कों को सज़ा देनी होती तो दाएं हाथ से अपने बाएँ कान की लौर (कान के नीचे का भाग) खींचते हुए शब्द-प्रवाह बहाते और प्रति दो शब्दों के बाद 'ले भाई ले' कहते। जब वे किसी पर नाराज़ होते तो उसकी ओर न देखकर दरवाज़े के बाहर देखते रहते।

लाभ उठाने के अवसर उन्हें बहुत-से मिले थे। खर्चीले स्वभाव के होने से वे रुपया भी अधिक नहीं बचा सके। इतना होने पर भी कभी उनका मन विचारों में भी विचलित हुआ हो, यह मैंने नहीं जाना। वे बार-बार अपने पुराने सूत्र को दुहराते—'जब चार हाथ का स्वामी देगा तो दो हाथों से सँभाला भी न जा सकेगा और जब वह लेना चाहेगा तो दो हाथ कितना बचा पावेंगे ?'

उनका हृदय बड़ा कोमल था। वह बहुत हँसते-हँसाते न थे, परन्तु मधुर विनोद और गौरवपूर्ण प्रसन्नता उनकी बातों की प्रमुख विशेषताएँ थीं। उनके समय और शिक्षा को देखते हुए वे बहुत अच्छी गुजराती और अँग्रेजी लिखते और बोलते थे।

पिताजी और माताजी का दाम्पत्य-जीवन आदर्श था। उन दोनों के जैसा विश्वासपूर्ण और स्नेहमय मैंने उस युग के पति-पत्नियों में नहीं देखा। पिताजी कमाकर लाते और माँ घर की व्यवस्था करती। पिताजी घर आते और सारे दिन की सुख-दुख की बातें करने लगते। माँ सब कुछ व्यवस्था कर लेती, परन्तु पिताजी की आज्ञा बिना उस पर अमल न करती। पढ़ने या बाहरी कामों में जो कुछ आता उसे पिताजी माँ से कहते और वह अँग्रेजी कहानी से लेकर जेल के काम-धन्धे तक प्रत्येक वस्तु में रस लेती। प्रत्येक सांसारिक कार्य को करती माँ, पर उसका यश देती पिताजी को। पिताजी भी सब काम करते थे पर बिना माँ से पूछे शायद ही करते हों। यदि उनसे कुछ काम बिगड़ जाता था तो माँ एक शब्द भी कहे बिना उसका दोष अपने ऊपर ले लेती थी। पिताजी से हम प्रेम भी अधिक करते थे। यदि उन्हें तेज़ बुखार आ जाता और वे घर में पैर रखते तो ऐसा लगता जैसे बुखार उतर गया हो।

मैंने चिरकाल तक उनके साथ बैठकर भोजन करने में आनन्द का अनुभव किया। पिताजी शायद ही कभी हमसे नाराज होते थे। माँ भी हमारे

लिए पिताजी के डर को छोड़कर दूसरे किसी भी शास्त्र का उपयोग नहीं करती थी।

इस सब में व्याप्त कला दोनों में से किसकी थी—माँ की, पिताजी की या दोनों की, यह कहा नहीं जा सकता। मां को छोड़कर पिताजी का कोई मित्र नहीं था और माँ की कोई सहेली है, यह मेरी जानकारी में नहीं। दोनों एक-दूसरे को छोड़कर किसी की सहायता नहीं मांगते थे और परवाह भी नहीं करते थे।

: १६ :

भड़ौंच के हाईस्कूल के असिस्टेंट मास्टर उत्तमराम मुझमें अधिक रुचि रखते थे। उनमें अनेक प्रकार की विचित्रताएँ भरी थीं, तो भी उनका जीवन एक प्रकार से उल्लेखनीय था। अपने स्वभावगत क्षोभ को जीतने का सतत प्रयास जैसे उनमें मूर्तिमान हो गया था।

वे हमारी जाति के आरम्भिक ग्रेज्युएटों में से एक थे। पढ़ने के दिनों में यह धर्मचुस्त और रूढ़िवादी विद्यार्थी अपने पाठ याद करके तुरन्त पास के लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में जाते और वहां देवता के निकट हाथ जोड़कर याद किये हुए पाठ को सुना जाते। साथ ही नित्य प्रति ऐसी प्रार्थना करते कि वे कक्षा में प्रथम आवें और अन्य विद्यार्थी उनसे पीछे रहें।

उनकी बहुत-सी आदतें अत्यधिक क्षोभ के कारण बनी थीं। वे चलते थे—सदा सड़क के बाईं ओर के किनारे पर—पानी के प्रवाह की भाँति; मानो बहे जा रहे हों। वे बोलते भी बड़ी तेजी से थे। कक्षा में लड़कों को सज़ा देनी होती तो दाएं हाथ से अपने बाएँ कान की लौर (कान के नीचे का भाग) खींचते हुए शब्द-प्रवाह बहाते और प्रति दो शब्दों के बाद 'ले भाई ले' कहते। जब वे किसी पर नाराज़ होते तो उसकी ओर न देखकर दरवाज़े के बाहर देखते रहते।

अध्यापक की दृष्टि से वे अत्यंत भले, मेहनती और लगे रहने वाले थे। लेकिन लड़के इनके कारण तोबा करते थे। इतने पर भी हमारी जाति के कितने ही शैतान लड़के उनको परेशान करने में कोई कसर नहीं रखते थे। मैंने सुना था कि चौमासे के दिनों में एक बार लड़कों ने उनकी मेज़ की दराज़ में मेंढक बन्द कर दिया था।

एक बार वे भारतवर्ष का इतिहास पढ़ा रहे थे—

'Then Humayun recovered and Babar sickened and died.'

एक लड़के ने 'सिकण्ड' शब्द सुनकर मज़ाक में कहा—'श्रीखण्ड।'

दूसरे ने कहा—'करेले का साग।'

तीसरे ने कहा—'रमास की दाल।'

मैंने भी कुछ कहा था पर वह क्या था, यह याद नहीं।

मास्टर ने दरवाज़े के बाहर देखते हुए अपने कान की लौर पकड़ी और डाँटते हुए बोले, 'ले भाई ले' यह तो 'शेमफुल। ले भाई ले, अच्छे लड़के ऐसा नहीं करते।, ले भाई ले, वह (वे हेडमास्टर को सदैव 'वह' कहते) आवेगा तो तुम्हारी हड्डियाँ तोड़ डालेगा।'

शाम को मैं लड़कों के साथ घर आता था और मास्टर सड़क से तीर की भाँति निकल जाते थे। मुझे देखकर उन्होंने बुलाया और कहा, 'ले भाई ले, कन्हैया, तू मेरे घर आना।'

मैं उनके घर गया। " 'ले भाई ले' कन्हैया, तू बैठ. एक बात कहूँ। ले भाई ले, तू तो अच्छा लड़का है और समझदार भी है। वे सब तो जानवर-जैसे हो गए हैं। ले भाई ले, तेरा उनके साथ मिलना मुझे पसन्द नहीं। ले भाई ले, सच कहता हूँ, मुझे पसन्द नहीं।" और उनके कान की लौर लम्बी खिंचती गई।

'मास्टर, अब जो कुछ हुआ सो हुआ। अब नहीं होगा।'

'ले भाई ले, ऐसे नहीं चल सकता। अभी परीक्षा में पाँच महीने हैं। मेरे पास आकर बैठा कर। अब जा। ले भाई ले, तुझे तो पास होना है—इसी वर्ष।'

'मास्टर साहब, भार्गवों के लड़के तो पहले वर्ष पास होते नहीं।'

'ले भाई ले, यह बात झूठ है, बिलकुल झूठ। तू इन लड़कों का साथ छोड़ दे। तुझे मेरी कसम।'

परिणाम यह हुआ कि वे बहुधा सन्ध्या समय मन्दिर में दर्शन करके हमारे घर के सामने आते और बाहर से 'कन्हैया' की आवाज़ लगाकर मुझे ले जाते। वे मुझे पढ़ाते तो नहीं थे, परन्तु इस बात की देखभाल रखते थे कि मैं क्या पढ़ता हूँ।

मुझमें पास होने की शक्ति है और मुझमें बुद्धि है, यह विचार हृदय की गहराई में छिपा था। उसे इस मास्टर ने प्रकट कर दिया। आत्म-बल पैदा करने वाले शिक्षक से बड़ा दूसरा शिक्षक कौन हो सकता है?

मैं घबराया हुआ मैट्रिक की परीक्षा देने अहमदाबाद गया। परीक्षा में निबन्ध आया—'Your favourite pastime।' न मुझे क्रिकेट आती थी, न फुटबॉल और न पतंग उड़ाना। जो वास्तव में था वह लिखा—'Reading Novels।'

उत्तमराम मास्टर की बात सच निकली। भार्गव लड़कों की परम्परा तोड़कर मैं पहले ही वर्ष पास हो गया।

तीसरा खण्ड

प्राणलाल भाई बचपन से ही बाल भीम की याद दिलाते थे। उनकी छाती और गर्दन लम्बाई की दृष्टि से असाधारण थी। उनकी बलिष्ठ भुजाएँ सामान्य मनुष्य की जाँघों से भी मोटी थीं। उनका एक पैर लोहे के खंभे के समान था, दूसरा बचपन में सूख गया था, परन्तु वे आवश्यकता पड़ने पर उसे जाँघ के जोड़ से घुमाकर चाबुक की भाँति इस्तेमाल कर सकते थे।

उनका स्वभाव सीधा, भोला और मस्त था। वे खूब खाते, खूब पीते और बुलन्द आवाज से खूब गाते। उनका मुख सदैव हँसता रहता था। आपत्तियों के दिन भी वे गाने-बजाने में बिता सकते थे। उनमें साहस भी अपार था। वे चाहे जहाँ जाते, परन्तु उनके सामने खाई-खड्डे नहीं आते। वे एक क्षण में दोस्ती कर सकते, चिर-परिचित जैसा व्यवहार शुरू करते और थोड़ी ही देर में घुल-मिल जाते।

मैं उनसे बिलकुल भिन्न था—छोटा, नाजुक, थोड़ा बोलनेवाला, लजीला और अकड़ू। बड़े आदमी का लाड़ला लड़का होने से मैं बाजार में कुछ लेने नहीं जाऊँ; यदि जाऊँ तो कुछ लेना नहीं आवे। बिना वस्तु के ही काम चला लूँ पर भाव-ताव करने की हिम्मत न हो। मैं बैठा-बैठा कुछ शुरू कर डालूँ पर उसे पूरा करें प्राणलाल भाई।

इस प्रकार जब बड़ौदा चले तो हम दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित थे।

पहले दिन मेरी बहन और बहनोई ने हमारा सत्कार किया और एक पड़ौसी के घर हमारा सोने का प्रबन्ध किया।

घर के सब लोग ऊपर चढ़ गए और हम दोनों दालान में सोए। नए जीवन के उत्साह और स्वजनों के अभाव से उत्पन्न उचाट के बीच मैं सोने का प्रयत्न कर रहा था। नींद का झोंका आता और चला जाता। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे मैं औरंगजेब के बाद का मुगल सम्राट होऊँ।

मैं शिथिल होकर सो रहा था कि चारों ओर से आक्रमण करनेवाली सेना के सैनिकों का संचार होने लगा। मेरे बिस्तर की दोनों सीमाओं पर

विचित्र हलचल शुरू हुई। पहले मैंने एक सीमा पर हाथ मारा। बाद में दूसरी सीमा पर चींमटा दिया। लेकिन मैं कहाँ तक करता! मुझमें अकबर के समान प्रतापी चैतन्य नहीं था। मेरे मस्तिष्क को तो नींद ने बहादुरशाह की भांति क़ैद कर लिया था। एक नहीं, दो नहीं, बल्कि दस-बीस महारथियों से प्रेरित सेनाएं मेरे ऊपर आक्रमण कर रही थीं। जहाँ से रास्ता मिलता वहाँ से ही वे आगे बढ़ती थीं। मैं असहाय की भांति यह सब सह रहा था। चारों ओर अन्धकार था। आक्रमण करने में असमर्थ मैंने संकटग्रस्त साम्राज्य के अन्तिम पागल और विवश सम्राट् की भांति आवाज लगाई—'अरे प्राणलाल भाई, मेरे सारे बिस्तर पर तो कीड़े आ गए हैं।'

'ऐसा है तो बहुत अच्छा है,' कहकर उन्होंने सान्त्वना दी और ज़ोर से हाथ मारकर एक दुश्मन का काम तमाम कर दिया।

हम बिस्तर से उठे, कपड़े झाड़े और खटमल बीनने लगे। लेकिन 'बीनना' शब्द उचित नहीं है, क्योंकि बिस्तर पर जहां हाथ जाता था वहां खटमल-ही-खटमल दिखाई देते थे।

इन वीरों की अनेक जातियों के साथ मुझे जीवन-भर लड़ना पड़ा है। अँगूठी में जड़ने योग्य छोटे खटमलों की जाति देखी है। ताशों में चित्रित हृदय की शक्लवाली लाल बादाम की जाति भी देखी है। आधी रात के समय छत में से पैराशूटिस्ट की भाँति सीधे बिस्तर पर गिरकर सूरज निकलने से पहले ऊपर चढ़ जाने वाले जर्मन रेडर के प्रतिरूप बीजापुर जेल के लम्बे और मोटे, गेहूँ की सी शक्ल के वीर भी देखे हैं। यरवदा के गोल छर्रों-जैसों से भी मुझे वास्ता पड़ा है। लेकिन चपलता या साहस में और आक्रमण करने की दृढ़ता या डंक मारने की सावधानी में इन खटमलों का जोड़ मैंने नहीं देखा।

विष्णु की भाँति क्षीर सागर में अथवा शिव की भाँति हिमालय पर जाकर बैठने की शक्ति न होने से हम दोनों रात भर संहार करते रहे। सवेरा

हुआ और हम थक गए, लेकिन फिर भी हम दुश्मनों का पूर्ण संहार न कर सके। लूटे हुए रुधिर से समृद्ध सेना का बहुत बड़ा भाग गड्ढों में घुस गया।

गुजरात के एक गाँव के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि वहां के भावुक जैन सब खटमलों को एक खाट में डालते जाते हैं और हर तीसवें दिन एक रास्तागीर को चार आने पैसे देकर उस पर सुलाते हैं। ऐसा करने से वे लोग चार आने पैसे खर्च करके ही खटमल मारने के पाप से बच जाते हैं। मेरी बहन और बहनोई के इस पड़ौसी मित्र को बिना भावुक हुए और बिना चार आने पैसे खर्च किये ही इतने खटमलों के पोषण का पुण्य मिल गया।

सवेरे हमारी जाति के ताज़ा पास होनेवाले एक मित्र ने हमसे छात्रालय के सुपरिन्टेन्डेन्ट भाईशंकर से मिल आने के लिए कहा। उसने उससे हमारी सिफ़ारिश कर दी थी। हम प्रसन्न होते हुए कालिज की ओर गये। इस विषय में हमें तनिक भी शंका नहीं थी कि हम जग जीतने निकले हैं। बड़ौदा कालिज की इमारत के सम्बन्ध में हमारे कालिज के एक कवि ने लिखा था—

'क्या शैलेन्द्र ? न हिम कुछ पड़ता,
मन्दाकिनी न बहती।'

यदि मुझमें काव्य लिखने की शक्ति होती तो मैं उस दिन सवेरे ऐसी ही कोई चीज़ लिख डालता।

जब हम सुपरिन्टेन्डेन्ट के कमरे के आगे पहुँचे तब गर्व से हमारी छाती फूल रही थी।

कमरे के आगे हजामत बनवाते हुए एक विद्यार्थी से हमने पूछा—'भाईशंकर सुपरिन्टेन्डेन्ट कहाँ हैं ?'

उसने बड़े रौब से पूछा—'कहाँ से आए हो ?'

हम सुपरिन्टेन्डेन्ट से मिलने गये थे, ऐसे छोटे-छोटे सवालों का जवाब देने नहीं, इसलिए मुझे अपने स्वाभिमान पर चोट होती दिखाई दी। स्वा-

भिमान पर चोट होती देखकर मेरा सर चकराने लगता था और मैं विरोधी को मुंह तोड़ उत्तर देने से अपने को रोक नहीं सकता था। उसमें भी यह तो पहला अनुभव था—'कहाँ से ? देखते नहीं उस दरवाज़े में से ?' मैंने भी वैसा ही जवाब दिया। दूर खड़े हुए दो-तीन लड़के हँस पड़े।

'क्या काम है ? मुझे बताओ,' उस विद्यार्थी ने कहा।

'इससे तुम्हें क्या मतलब ?' प्राणलाल भाई को भी मेरा रंग लगा, 'भाई शंकर कब आवेंगे ?'

पहले ही दिन रौब जमाकर हर्षित होते हुए हम वापस आए।

शाम को हमारे ग्रेज्युएट मित्र मिले तो हमारे रौब की शीशी का पारा तल में जाकर बैठ गया।

अधिकार की दृष्टि से तो 'बोर्डिंग' का सुपरिन्टेन्डेन्ट वह 'फेलो' होता था जो प्रति वर्ष बी० ए० में प्रथम आता था। भाईशंकर तो कालिज का क्लर्क था। लेकिन चूँकि उसके सामने ही प्रति वर्ष 'फेलो' बदले जाते थे, इसलिए उसे सब सम्मान प्रदर्शित करने के लिए सुपरिन्टेन्डेन्ट कहते थे। हम वास्तविक सुपरिन्टेन्डेन्ट का अपमान कर आए थे।

जैसे-तैसे अपने मित्र की सहायता और तापीदास काका की चिट्ठी के द्वारा अंत में हमको 'डाईसैक्शन हॉल' नाम के सुविचाररहित मकान में चार-पाँच विद्यार्थियों के साथ रखा गया।

बोर्डिंग के मैसों में 'सूरती मैस' सबसे अधिक प्रसिद्ध था। वहां भी हम अपनी जाति के हमसे पहले पढ़े हुए जाति भाइयों के परिचय के आधार पर दाखिल होने गए। लेकिन वे मैस में नुक्ताचीनी करने के लिए प्रसिद्ध थे, इसलिए हमें उसमें दाखिल नहीं किया गया। अन्त में हम 'पाटीदार मैस' में शामिल हुए।

दूसरे दिन हम मैस में खाने गए। मैस में तीन रेशमी धोती पहने हुए ब्राह्मण थे, जो साथ बैठे—दो हम और तीसरे हमारे फेलो साहब।

'क्यों, मुन्शी ब्रदर्स,' उससे छींटा कसे बिना न रहा गया, 'मुझे पहचानते हो कि नहीं ?'

'अरे, हम तो तुम्हें बहुत दिन से जानते हैं,' प्राणलाल भाई ने उत्तर दिया।

हमें विश्वास हो गया कि हममें आपस में लड़ाई रहेगी।

'डाइसेक्शन हॉल' में तीन अनाविल विद्यार्थी और थे। उनके साथ भी हमारी शीघ्र मित्रता हो गई। केवल भट्ट नाम का एक छठा विद्यार्थी था। वह अकड़ू और अलग रहने वाला था। पहले ही दिन से उसने आठ-दस घण्टे रोज़ पढ़ना शुरू कर दिया। वह अक्सर हमें किसी-न-किसी प्रकार इस बात का भान करा देता था कि उसे हमारी गप्पें और शैतानियाँ पसन्द नहीं हैं।

इतने में ही 'बाँकानेर नाटक मण्डली' वड़ौदा आई और दो-चार दिन बाद मैं अपने मित्रों को नाटक दिखाने ले गया।

मैंने भट्ट से भी चलने के लिए आग्रह किया परन्तु वह टस-से मस न हुआ। उसने कहा—'मेरे बाप ने मुझे यहां पढ़ने भेजा है, नाटक देखने नहीं।'

'धत्तेरे बाप की !' एक अनाविल मित्र ने उत्तर दिया।'

जबसे भट्ट ने यह कहा था कि हमारे माता-पिता ने हमें अभिनेता बनने के लिए कालिज भेजा है तब से हम यह मानने लगे कि उसकी सुविधा का ध्यान रखने की हमारी ज़िम्मेदारी खत्म हो गई।

रात को दो-तीन बजे नाटक खत्म होने पर हम धीरे-धीरे चलते हुए और गीत गाते हुए घर लौटते और घर पर भी यदि प्राणलाल भाई को गाने की उमंग उठती तो साथ देने के लिए तैयार रहते।

एक शनिवार को हम 'नर्मदा' नामक नाटक देखकर आये तो तीन बजे के लगभग प्राणलाल भाई अपनी बुलन्द आवाज़ में ललकारने लगे—

'बलिहारी है प्रियतम तेरे प्रेम की
तेरी आँखों के ये तारे
मुझे प्राण से भी हैं प्यारे
प्रिय तुम होना कभी न न्यारे
मेरे यौवन के रखवारे।'

और हम सबने भी साथ दिया। गीत ने सामूहिक गान का रूप लिया। एक ने मेज़ पर ताल देना शुरू किया तो दूसरे ने मुंह से हारमोनियम बजाना शुरू किया। इस प्रकार प्रातःकाल चार बजे 'डाइसेक्शन हॉल' गूंज उठा।

दूसरे दिन सवेरे हममें से एक ने भट्ट को फेलो के कमरे से निकलते देखा। खाने के वक्त फेलो महाशय ने चुटकी ली—" 'डाइसेक्शन हॉल' में तो रात को बुलबुलें चहक रही थीं।"

'बुलबुलें ही थीं न,' प्राणलाल भाई ने जवाब दिया—'कौए तो नहीं थे?'

'खबरदार, मैं चेतावनी देता हूँ,' फेलो ने कहा।

हमने भट्ट की खबर लेने का संकल्प किया। वह दोपहर को बारह बजें नंगे पैर—वह जूते कभी नहीं पहनता था—'डाइसेक्शन हॉल' की ओर आता हुआ दिखाई दिया। हम दरवाजा अन्दर से बन्द करके और ओढ़कर सो गए। रास्ता तपकर अंगारा जैसा हो रहा था। जलते हुए पैरों से भट्ट आया और दरवाजा खटखटाया। सोते हुए आदमी तो जागते देखे गए हैं, पर जगते हुए क्या कभी जगे हैं? ज्यों-ज्यों दरवाजा खटकता जाता त्यों-त्यों हमारे नकुओं से अधिकाधिक जोर से खर्राटे की आवाज निकलती जाती। अन्त में भट्ट थक गया और बड़बड़ाता हुआ, जलते पैरों फेलो को बुलाने गया।

थोड़ी ही देर में फेलो, भट्ट और छात्रालय का कहार दरवाजा खटखटाने लगे। हम मुचकुन्द की निद्रा में पड़े थे, इसलिए जागते तो कैसे जागते?

अन्त में किवाड़ें उतारने की बात सुनी तो हममें से एक ने दरवाज़ा खोला और हम आँखें मलते हुए उठे।

'क्या करते हो ?'

'हम कल नाटक देखने गए थे, इसलिए हमें नींद आ गई।'

फेलो के मन की बात हो गई। हमारी धृष्टता, संगीत, अपने मां-बाप के प्रति हमारा कर्तव्य आदि सभी विषयों का उसने विस्तार से विवेचन किया और कहा कि 'मुन्शी ब्रदर्स' को तो कालिज से निकाल ही दिया जायगा।

बातों-ही-बातों में उसने मेरी भी कुछ आलोचना की। यह देखकर मेरा पारा गर्म हो गया। मैं बिस्तर से उठा और उसके सामने जाकर खड़ा हो गया और बोला—'देखिए मिस्टर फेलो, आप जो कहना चाहें, शीघ्र कह डालें। हमें नींद आ रही है। आपके जाने के बाद हमें सोना है।'

फेलो आगबबूला हो गया। 'मैं देख लूँगा, देख लूँगा' कहता हुआ चला गया। हम करने को तो सब कर गए, पर हमारे होश उड़ गए। क्या होगा ? कालिज में से निकलवायगा। हम स्तब्ध होकर एक-दूसरे की ओर देखने लगे।

हममें से एक कालिज के तीन अग्रगण्य माने जानेवाले विद्यार्थियों को जानता था। वह उनके पास मदद के लिए गया। वे तीन थे—'पी० के०,' 'पंड्या काका' और अंकलेसरिया। ये तीनों कालिज के प्रत्येक कार्य में आगे रहते थे, सुधारों के लिए लड़ते थे और सूरती मैस में सम्राट का पद भोगते थे। हमने 'फेलो' के साथ होनेवाली लड़ाई की कथा आरम्भ से लेकर अन्त तक उन्हें सुना दी। उनको भी फेलो से घृणा थी, इसलिए हमें अभयदान देते हुए उन्होंने तनिक भी हिचकिचाहट नहीं दिखाई।

दूसरे दिन फेलो का फरमान आया। भट्ट को बाहर रखने और उसका अपमान करने के लिए 'मुन्शी ब्रदर्स' पर दो रुपया और दूसरों पर एक-एक

रुपया जुरमाना किया गया था। जैसे ही फरमान आया वैसे ही पी० के० ने प्रिंसिपल के पास भेजने के लिए अपील तैयार कर डाली। प्रिंसिपल ने इस अपील की जाँच गणित के अध्यापक तार्पीदास काका और संस्कृत के प्रोफेसर आर्ते को सौंपी।

वृद्ध तार्पीदास काका सारे कालिज के 'काका' थे। उनका प्रेमपूर्ण हास्य सबको वश में कर लेता था। सबको सान्त्वना देने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। 'दोनों ओर से बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं।' यह उनका प्रिय सूत्र था।

वे ठिगने थे। उनकी छोटी-छोटी आँखें सदैव नाक की नोक पर रखे हुए चश्मे के ऊपर से चमकती रहती थीं। वे अचकन, पतलून, सलवट पड़े हुए मोजे और महाराष्ट्रीय जूते पहनते थे। चौमासे में वे नालदार फौजी बूट पहनते थे।

एक बार वे फौजी बूट पहनकर आए तो कुछ शैतान लड़कों ने व्यास-पीठ पर पटाखे फैला दिए। बोर्ड पर सवाल करते हुए काका इधर-से-उधर घूमने लगे तो थोड़ी-थोड़ी देर में पटाखों पर बूट के नाल के लगने से धड़ाके होने लगे। आवाज सुनते ही प्रिंसिपल टेटे ने आकर सारी क्लास को कालिज से निकालने की धमकी दी। काका बीच में पड़े—'Boys will be boys. अब फिर कभी ऐसा नहीं करेंगे। क्यों लड़को?' और सारी बात बिना किसी को दण्ड मिले रफा-दफा हो गई।

काका और आर्ते साहब ने हमें बुलाया। मेरे मित्रों ने मुझे आगे कर दिया। मैं यह सोचकर काँप रहा था कि यदि कालिज में आते ही दण्ड मिला तो न जाने पिताजी क्या कहेंगे। मैं घबराता हुआ आगे बढ़ा।

कुछ दूर पर हमारे फेलो महाशय बैठे थे।

"क्या तुम 'मुन्शी ब्रदर्स' में से एक हो?"

'जी, हाँ।'

'क्या है ? सच-सच बता दो ।' काका ने कहा ।

'साहब,' मैंने कहा, 'हम शनिवार की रात को नाटक में से आकर ज़रा गा रहे थे कि भट्ट ने जाकर फेलो से शिकायत कर दी । तभी से फेलो साहब गुस्से हो गए हैं ।'

'गाने में क्या हुआ ?' आर्ते साहब ने पूछा । 'लेकिन तुम दोनों ने भट्ट और फेलो का अपमान भी तो किया है ?'

'जी नहीं, दोपहर को हम सो रहे थे कि भट्ट और फेलो साहब आगए । इन्होंने दरवाजा खटखटाया । हमने सुना नहीं । साहब, यही हमारा दोष है ।'

'लेकिन इसमें अपमान कैसे हुआ ?' काका ने पूछा ।

'किसी तरह भी नहीं साहब ! उलटे इन्होंने हमें आध घण्टे तक बुरी तरह डाँटा है । इन्होंने कहा कि हम कालिज के लायक नहीं हैं, बाप का पैसा बिगाड़ते हैं, हमें कालिज से निकाल दिया जायगा ।'

'That's it !' काका ने फेलो से कहा । 'यह लड़का अपमान करे ? और तू उसे ऐसा लेक्चर दे ? दो महीने पहले तो तू स्वयं ही विद्यार्थी था । अधिकार मिल गया तो तेरा यह रौब है ?'

'लेकिन साहब, मेरा अपमान जो हुआ है,' फेलो ने कहा ।

'अरे, यह भी विद्यार्थी और तू भी विद्यार्थी । गीत गाया तो क्या पाप हो गया ? क्या ऐसी बातें कहनी चाहिएँ ? अरे, मेरे भाई, ऐसे लड़कों के साथ तो दो घड़ी हिल-मिलकर बैठना चाहिए, बातचीत करनी चाहिए ।' और उन्होंने हमसे कहा, 'जाओ गुनाह माफ हुआ । खबरदार जो फिर कभी फेलो का अपमान किया ।' और काका फेलो से बोले, 'नए लड़कों से तनिक प्रेम का व्यवहार करना चाहिए । जा, जा । Tempest in a pot.'

हम विजयपताका फहराते हुए बाहर आये और वहाँ खड़े हुए हमारे मित्रों ने हमें शाबाशी दी ।

यह उत्सव मनाने के लिए हमने चार आने चन्दा किया, बाजार से

जलेबी और चिड़वा मँगाये और पंड्या काका के कमरे में दावत की। इस प्रकार पी० के० की टोली में प्रविष्ट होने की हमारी विधि सम्पन्न हुई।

: २ :

इस अनुभव से मुझे बड़ा लाभ हुआ। अपने ही में डूबे रहने से मुझमें जो अकड़ आ गई थी वह अब कम होने लगी। साथ ही दूसरों के मुकाबले मुझे अपनी शक्तियों और अशक्तियों का भी कुछ भान हुआ। अब मैं कालिज के नेताओं का भी प्रिय बन गया।

कालिज के वातावरण का चित्र मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में दिया है। लेकिन अपने विकास का इतिहास लिखते समय पुनरुक्ति का दोष होने पर भी अपने दर्शन के अध्यापक प्रोफेसर जगजीवन वल्लभ जी शाह का उल्लेख करना मुझे आवश्यक जान पड़ता है।

'स्वप्नद्रष्टा' की समालोचना करते हुए 'पी० के०' ने इस प्रकार लिखा था—

"सन् १६०२ से १६०६ तक इस उपन्यास के लेखक श्री कन्हैयालाल मुन्शी बड़ौदा कालिज में विद्याध्ययन करते थे। उस समय विद्यार्थियों के सौभाग्य से कालिज में अत्यंत प्रभावशाली और विद्यार्थियों को प्रेरणा देकर उनके भावी जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव डालने की शक्ति रखनेवाले दो प्रतिभाशाली प्रोफेसर थे—एक प्रोफेसर जगजीवन वल्लभ जी शाह और दूसरे प्रोफेसर अरविन्द घोष। प्रो० शाह तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे और प्रो० अरविन्द घोष अँग्रेजी और फ्रेंच के प्रोफेसर थे। प्रो० शाह पाश्चात्य संस्कृति के पक्षपाती थे। उनके जीवन पर अँग्रेजी लेखक मार्टिनो का अद्भुत प्रभाव पड़ा था। धार्मिक विश्वास की दृष्टि से वे मार्टिनो की ही भाँति 'यूनिटेरियन' अर्थात् मात्र एक ईश्वर की सत्ता को मानने वाले थे। वे धार्मिक और नैतिक जीवन के प्रबल समर्थक थे। वे देखने में सुन्दर

और आकर्षक थे। उनकी वाणी में माधुर्य था। विद्यार्थियों के साथ वे पर्याप्त हेल-मेल रखते थे। अपने कितने ही विद्यार्थियों को वे अपने घर खाने और चाय पीने के लिए बुलाते थे और उनसे विविध विषयों पर वार्तालाप करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उपदेश देते तथा उनके दृष्टिकोण को विशाल बनाते थे। कालिज की 'डिबेटिंग सोसायटी' में वे बार-बार सभापति के पद से सुन्दर भाषण देते थे। प्रो० शाह के प्रभाव से कालिज के अनेक विद्यार्थी धार्मिक और सामाजिक विषयों में क्रान्तिकारी विचारों वाले बन गए थे।···रूढ़िवादी विद्यार्थियों के ऊपर उस समय के बड़ौदे के 'श्रेय: साधक अधिकारी वर्ग' का प्रबल प्रभाव पड़ा था। रूढ़िवादी विद्यार्थी पाश्चात्य सुधारों, प्रो० शाह और उनके अनुयायियों की निन्दा करने में सुख का अनुभव करते थे।···राजनीतिक विचारों में वे फीरोजशाह और रानाडे के सम्प्रदाय के थे। इस विषय में उनके भाषण और उपदेश उतने ही अंश में मर्यादित थे। थोड़े ही दिन जीवित रहकर प्रो० शाह सन् १६०५ में भरी जवानी में स्वर्गवासी हो गए।"[1]

'पी० के०' प्रो० शाह का प्रिय शिष्य और उसका शिष्य मैं। मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में 'पी० के०' का भी चित्र दिया है, यदि कोई यह न समझ ले कि इस उपन्यास के सभी चित्र वास्तविक जीवन से लिये गए हैं।

"······(उसका) अन्तर निर्मल और (उसका) उत्साह सर्वग्राही था। सत्य और निष्कपटता की प्रतिमूर्ति-सा वह सबको प्रेम की दृष्टि से देखता था और गहरे भावों का अनुभव करने में अक्षम होने पर भी अपने हृदय में श्रेष्ठ विचारों को स्थायी और शाश्वत रूप में सुरक्षित रखने में निपुण था। न तो उसका उत्साह कभी आकाश को छूता था और न कभी मन्द ही होता था। उसकी जिज्ञासा की सीमा में जीवन के सभी क्षेत्र और प्रश्न आ जाते थे और उसका प्रत्येक विषय का ज्ञान थोड़ा होने पर पक्का भी था।

---

१. प्राणलाल कृपाराम देसाई—'स्वप्नद्रष्टा' बुद्धिप्रकाश, फरवरी १६२८।

वह पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्रों का भक्त था और विशेषरूप से भारत-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पर वह लड़कों को कोई-न-कोई नई बात बता सकता था। ईश्वर और धर्म, लोक-शासन और स्त्री-स्वातन्त्र्य, जाति और पुनर्विवाह, अंग्रेजी सरकार और स्वदेशी आन्दोलन— सभी पर वह अपने विचार प्रकट करता था।······वह विद्यार्थियों के प्रगतिवादी दल का नेता था और 'डिवेटिंग सोसायटी' में प्राचीन विचारों को हेय ठहराने में प्रमुख भाग लेता था।'[1]

१६०२ की मेरी डायरी में एक स्थान पर लिखा है—

'मुझे आमोद के पी० के० देसाई की मित्रता का सौभाग्य मिला है। सब मित्रों ने मिलकर मुझे जो कुछ सिखाया है उससे अधिक उस अकेले ने मुझे सिखाया है।'

ज्ञान और विकास के लिए भटकनेवाले मुझ जैसों को उसका साथ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

जब मैं स्कूल में पढ़ता था तभी से नेपोलियन ने मेरी कल्पना को उत्तेजित किया था। पैसा हाथ में आते ही मैंने तुरन्त एबट लिखित 'नेपोलियन का जीवन चरित्र'[2] खरीदा और उसे अत्यधिक रुचि के साथ पढ़ा।

"जिस प्रकार एक सुन्दर उद्यान में उगी हुई नन्ही-नन्ही घास में सृजन-क्रिया से श्रान्त होकर सोये हुए किसी महान् देवता के शरीर का आकार दिखाई देता है उसी प्रकार इस पुस्तक के पृष्ठों में खचाखच भरे हुए बारीक टाइप में एक प्रतिमा का आभास मिला। वह प्रतिमा भी भूरा ओवर कोट पहने, बख्तर से दुर्जेय और जामे से तेजस्वी प्रतीत होने वाली—ठिगनी और मोटी—मानव-जीवन के गौरवपूर्ण प्रातःकाल के आदर्श के अनुरूप इस आधुनिक वीर की। उसने छाती पर कैंची बनाकर दोनों हाथ रखे हुए थे। शीशे

---

१. 'स्वप्नद्रष्टा' (हिन्दी) पृष्ठ १११

२. Abbot : Napoleon

के समान उज्ज्वल मुख पर देवदुर्लभ शांति विराज रही थी। सुन्दर होठ दृढ़ता से बन्द थे। नाक का गांडीव आकाश बेधने की आकांक्षा से तना था। अविचल भाल पर की उग्रतापूर्ण ध्यानमग्नता शिव के तृतीय नेत्र की प्रज्ज्वलित विनाशकता के समान शोभित थी और गहरी आँखों की भव्य स्थिरता में दिखाई देनेवाली सृजन और संहार की अग्निशिखाओं के विविध रंगों में केन्द्रित शक्ति की ज्योति जगमगा रही थी।

जैसे-जैसे सुदर्शन के आगे उसका व्यक्तित्व विकसित होता गया वैसे-वैसे उसने नेपोलियन को पुनः अपने पराक्रमों को करते हुए पाया। उसकी विजयिनी हुंकार ने टुलोन और लोडी के क्षेत्रों को गुँजा दिया, उसके अदम्य उत्साह ने ईजिप्ट और सीरिया के रेगिस्तानों की ज्वलित विषमता को शांत किया और आल्प्स के हिममय शिखरों को मात दी। त्रिपुरारि के-से त्रिगुणातीत प्रताप से उसने जीना, मेरेंगो और आस्टरलिट्ज को आक्रान्त किया और मास्को से लौटते हुए पराजय में भी विजय की महत्ता का प्रदर्शन किया। वाटर्लू में उसका पतन हुआ और वह संटहेलेना में अपूर्व गौरव के साथ सड़ता रहा। वह फ्रांस का प्राण, आदर्श और विधाता बना। उसने यूरोप का नाश किया और उसे नवजीवन देकर पुनः हरा-भरा कर दिया।

"वह एक बार फिर उठा, बढ़ा और गरजा—समस्त सृष्टि के एकच्छत्र सम्राट के समान वर्णनातीत भव्यता के साथ और उसने सुदर्शन के स्वप्नों को समृद्ध करके उसकी मानवता को नये तेज से चमकाया।" [1]

इस पुस्तक की प्रेरणा से मैंने एक अँग्रेजी महाकाव्य लिखना भी आरंभ किया था। नेपोलियन का स्थान अब भी मेरे छोटे-से देव मन्दिर में है। उसका प्रताप अत्यन्त दुर्बलता के क्षणों में मेरे मन को प्रेरणा देता है।

उस समय विद्यार्थियों में सदैव इस बात पर झगड़ा चलता रहता था कि स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए या नहीं। पी० के० स्त्री-शिक्षा के प्रमुख

---

१. स्वप्नद्रष्टा—पृष्ठ १०६-११०

समर्थक थे। मुझे भी स्त्रियों की महत्ता और समानता में जन्म से अविश्वास नहीं था। मैंने चिन्तामणि सम्पादित 'समाज-सुधार' और मिल की 'स्त्रियों की पराधीनता' नामक पुस्तकें अपनी समझ के अनुसार पढ़ डालीं, उनकी विशेष बातों को नोट कर लिया, उनके बहुत-से वाक्य रट डाले और युद्ध में भाग लेने के लिए तैयार हो गया।

विद्यार्थियों का एक बहुत बड़ा दल स्त्रियों को पढ़ाने के विरुद्ध था और उसके नेता श्री नरसिंहाचार्य बड़ौदा में स्थापित 'श्रेय: साधक अधिकारी वर्ग' के सदस्य थे। दोनों दलों में निरन्तर वादविवाद चलता रहता था।

एक बार कालिज की 'वादविवाद सभा' में 'स्त्री-शिक्षा' पर वादविवाद हुआ। एक विद्यार्थी ने तालियों की गड़गड़ाहट के बीच कहा—'सौभाग्य से मेरी स्त्री को पढ़ना नहीं आता और यदि आता होता तो मैं भुला देता!' दूसरे ने कहा—'पुरुष और स्त्री की समानता कैसी? दोनों को क्यों पढ़ाना चाहिए? दोनों में बहुत अन्तर है। पुरुष में गर्दभता मिलाने से स्त्री बनती है। He में ass मिलाने से She बनती है। Lion में ass मिलाने से Lioness बनती है। Duke में ass मिलाने से Duchess बनती है।'

यह सारा वादविवाद केवल सिद्धान्तों के लिए ही नहीं था। बात यह थी कि दो विदुषी स्त्रियाँ गुजरात की सर्वप्रथम ग्रेजुएट होकर अपने प्रान्त की शोभा बढ़ा रही थीं। वे ही उस झगड़े का कारण थीं।

स्त्रियों के स्वातन्त्र्य-युद्ध में हमें एक अप्रत्याशित लक्ष्य मिल गया। एक झूठी-सच्ची बात यह थी कि जब हमारा फेलो दूसरे कालिज में था तब उसने एक सहपाठिनी को 'शकुन्तला' नाटक का एक श्लोक[1] लिखकर दिया

---

१. किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवातान्
संचारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः।
अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुतपद्मताम्रौ ॥—'अभिज्ञान शकुन्तला'

था, जिसके परिणामस्वरूप उसने उसके भाई के हाथों मार खाई थी। हमारे हाथ में यह ब्रह्मास्त्र आ गया।

हम भी 'शकुन्तला' पढ़ रहे थे, इसलिए हमने यह श्लोक याद कर लिया और नहाते, खाते, टेनिस खेलते, कालिज की गैलरी में घूमते हम इस श्लोक का पाठ करने लगे।

हमारा यह जप हमारे मण्डल के संस्कृत जाननेवालों ने उड़ा लिया। पँड्या काका हर रोज़ खाते वक्त इसे बोलने लगे और 'नमः पार्वती पतये नमः' की घोषणा से श्लोक पूरा करवाने के बदले 'नमः·········थै नमः' का उच्चारण करते हुए उस विद्यार्थिनी का नाम जोड़कर हमारे जप को सार्थक कर दिया। दूसरे भी इस श्लोक को बोलने लगे। जहाँ 'फेलो' के दर्शन होते वहीं 'पद्मताम्रौ' का गुँजन, रट या घोषणा सुनाई देती। इस श्लोक की लोक-प्रियता का कारण 'फेलो' की भी समझ में आ गया और वह परेशान होकर अपने कमरे में ही घुसा रहने लगा। भूले-भटके कभी हमें देख भी ले तो तुरन्त दूसरे रास्ते से चला जाय और अन्त में तो इस 'स्त्री शिक्षा के विरोधी' (Arch-enemy of female education), 'वनिता वात्सल्य विरोधी' (Knight of unchivalry), और रूढ़िवादियों में श्रेष्ठ' (Orthodox—जिसका उच्चारण हम 'अर्था डॉग्स' करते थे—in chief) के दर्शन भी दुर्लभ हो गए।

साल के अन्त में हमने उसे अन्तिम बार बनाने का निश्चय किया।

कहे प्यारी तोपै कमल विजना शीतल झलूँ।
लगे सीरी-सीरी पवन तन कौ आलस मिटे॥
कहे लैके अंकों चरन प्रिय के जावक रचे।
मलूँ जैसे-जैसे सुखदकर भोरु तुहि जचे॥—'शकुन्तला नाटक'—राजा लक्ष्मणसिंह—अंक ३, श्लोक १६।

पहली अप्रैल को हमने रात के दो बजे तक गप्पें मारीं और गाना गाया। उसके बाद हमको फेलो के दर्शनों की उत्कण्ठा हुई। सबसे छोटा होने के कारण मेरे लिए यह निर्णय हुआ कि मैं बिस्तर पर ही बैठा रहूँ। बाकी के सब मित्र क्रिकेट की बाउंड्री के बांस लेकर 'चोर चोर' की आवाज़ लगाते बाहर निकले। हमारी आवाजें सुनकर फेलो, भाईशंकर, छात्रालय के बहादुर लड़के और नौकर लाठी और लालटेन लेकर दौड़े।

जहां आज नया छात्रालय है वहाँ उस समय खेत थे। इन खेतों और कालिजों के बीच एक खाई थी।

चार-चार या पाँच-पाँच विद्यार्थी मिलकर, खाई को पार करके चोरों को पकड़ने के लिए खेतों में गये। फेलो के सामने भी हमने चोरों का यथा-सम्भव सच्चा चित्र रखा। मुझे घबराता देखकर या फिर चोरों के मिलने के डर से फेलो और भाईशंकर मेरे पास ही बैठे रहे।

बहुत देर हो गई, परन्तु एक भी चोर पकड़ने में नहीं आया।

'भाईशंकर,' फेलो ने कहा, 'यह अप्रैल फूल का तमाशा तो नहीं है?'

'और भाई, देखते नहीं? यदि ऐसा न होता तो कनु डर के मारे मर जाता?'

इस शैतानी का अप्रत्याशित परिणाम सामने आया। छात्रालय में चोरी की बात सुनकर प्रिंसिपल ने पुलिस को एक कड़ी चिट्ठी लिखी। चोर कितने थे, कैसे थे, क्या चोरी गया आदि का ब्यौरा हमें देना पड़ा। जैसे ही पुलिस कोई चोरी का माल पकड़ती वैसे ही हमें बुलाया जाता और पूछा जाता कि यह माल हमारा है या नहीं। पहले तो हमें मजा आया, लेकिन पीछे हम ऊब गए और हमने यह लिखकर कि हमारी सभी चुराई हुई वस्तुएँ मिल गई हैं, हमने दीवान को अन्तिम प्रणाम किया।

: ३ :

बड़ौदा कालिज में उस समय पूरी स्वतन्त्रता थी । जिसको पढ़ना हो पढ़े, न पढ़ना हो न पढ़े। अध्यापक अपना निष्काम कर्म करते जाते थे।

जब मैं कालिज में आया तब टेट साहब प्रिंसिपल थे । वे मितभाषी, सच्चे और कठोर अनुशासन में विश्वास रखनेवाले थे। वे अंग्रेजी कविता भी गणितज्ञ की भांति यांत्रिक नियमितता से पढ़ाते थे। वे पहले से ही अपनी डायरी में प्रतिदिन के काम को लिख लेते थे और यह निश्चय कर लेते थे कि कौनसी कविता किस दिन पढ़ानी है । जब उस कविता के पढ़ाने का समय आता तो डायरी में लिखे दिन का बराबर ध्यान रखते थे और अपनी डायरी में लिखे हुए शब्दों के अर्थों को ही लड़कों को बताते थे ।

हमारे अंग्रेजी के प्रोफेसर छः फुट लम्बे और सुन्दर युवक थे। वे पढ़ाने की अपेक्षा हँसी-मज़ाक में ही सारा समय बिता देते थे। उनकी उम्र क्या होगी, यह प्रश्न गम्भीर था । कारण, प्रीवियस क्लास में पहले ही दिन उन्होंने कहा कि डाक्टर जॉनसन के विषय में उन्होंने छः वर्ष तक अध्ययन किया है। उसी दिन उन्होंने इण्टर क्लास में कहा कि फ्रेन्च विप्लव का अध्ययन उन्होंने पेरिस में रहकर आठ वर्ष तक किया है । दोपहर बाद उन्होंने बी.ए. क्लास में कहा कि उन्होंने दस वर्ष तक ऑक्सफोर्ड में रहकर शेक्सपियर का अध्ययन किया है । इस कारण हम उनकी उम्र का हिसाब लगाने में ही लगे हुए थे।

हमारे इतिहास के प्रोफेसर दयालु और शांत थे । वे इतने कर्तव्य-परायण थे कि प्रतिदिन साठ मिनट रोम का इतिहास पढ़ाते थे और पूरे साल में पांच-सौ पृष्ठों में से पचहत्तर ही समाप्त कर पाते थे। घण्टा बजते ही क्लास में अस्सी विद्यार्थी उपस्थित हो जाते थे, परन्तु आधे घण्टे बाद केवल वही विद्यार्थी बच रहता था, जिसे उनकी नजर के सामने बैठने का दुर्भाग्य प्राप्त होता था । घण्टा समाप्त होते ही फिर अस्सी विद्यार्थी हो जाते थे

इसका कारण यह था कि घण्टे के शुरू में और घण्टे के आखिर में दोनों वक्त हाजिरी ली जाती थी। इस प्रकार क्लास में रोज़ ज्वार-भाटा आता था; लेकिन उनकी वाणी का प्रवाह अगाध गति से बहता रहता था और यदि कोई उनका अपमान भी करता तो वे उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते थे। तापीदास काका की भाँति उनका भी विश्वास था कि 'लड़के तो आखिर लड़के ही हैं।'

जैसे अकाल-पीड़ित व्यक्ति खाते-खाते नहीं अघाता वैसे ही मैं पढ़ते-पढ़ते नहीं अघाता था। मैंने लिटन, मेरी कोरेली और ड्यूमा के उपन्यास पढ़े। सर वाल्टर स्कॉट की रचनाएं भी पढ़ीं, परन्तु वे मुझे अधिक अच्छी नहीं लगीं।

मेरे संस्कार पौराणिक थे। उनमें परिवर्तन होता गया। संध्या करना छोड़ दिया और वर्णाश्रम के प्रति अविश्वास हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैसे दूध में नींबू की बूँद पड़ने से वह फट जाता है वैसे ही संशय के स्पर्श से मेरे सम्पूर्ण मानस का रूपान्तर हो गया।

त्रिकाल संध्या छोड़कर मैंने 'प्रार्थनामाला' की प्रार्थनाओं का बोलना आरम्भ कर दिया था। उनके पढ़ने से मुझे बाइबिल के पढ़ने में आनन्द आने लगा। मैंने एक बार लिखा था—'ईसाई धर्म उतना निर्जीव नहीं है, जितना कि मैं समझता था। महात्मा ईसा आदर्श पुरुष हैं। १६०२-३ में मैंने ईसाई धर्म के विषय में खूब पढ़ा। उसमें भी जब डीन फेरार का लिखा हुआ ईसा का जीवन-चरित्र[1] पढ़ा तो मेरे मोह का आवरण कुछ हटा। बाद में मैंने अपनी डायरी में लिखा था—'ईसाई धर्म में ईश्वर का विचार मूर्खतापूर्ण है। ईश्वर मनुष्य के समान, उसके भी लड़का और फिर साथ में सिंहासन। ईसाई धर्म में लड़कपन है।' इससे शिव-पार्वती की पूजा करनेवाले बालक की दो वर्ष की प्रगति का पता चलता है। पीछे ईसा के व्यक्तित्व के प्रति

---

1. Dean Ferar : 'Jesus Christ'

आकर्षण बढ़ा। रेना लिखित ईसा के जीवन-चरित्र[1] का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। १७-२-१९०७ की डायरी इसकी साक्षी है। उसमें लिखा है—'ईसा मसीह ने मेरे मन पर अधिकार कर लिया है। जब तक मैं उसे मन से नहीं निकाल देता मुझे शान्ति नहीं मिल सकती।'

पी० के० के साथ दर्शन की पुस्तकें पढ़ने का भी मैंने कुछ प्रयत्न किया। फिर मैंने पेइन की 'मनुष्य के अधिकार'[2], मिल की 'स्वतन्त्रता'[3], मिकेलेट की 'फ्रान्स की राज्यक्रान्ति'[4] आदि पुस्तकें पढ़ीं। इन पुस्तकों के पढ़ने से मेरी वही दशा होने लगी जो राज्यक्रान्ति के समय फ्राँस की थी। नये विचारों के संघर्ष से पुराने बन्धन शिथिल हो गए। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के अध्ययन से मुझे स्वतन्त्रता और समानता का पागलपन सवार हुआ। मैं शीघ्र यह समझ गया कि समानता का अर्थ वर्णाश्रम धर्म का विध्वंस है। धीरे-धीरे अँग्रेज कलक्टर और भारतीय डिप्टी कलक्टर के बीच का भेद भी समझ में आ गया।

रंगभेद के भीतर व्याप्त बुराई का तीखा अनुभव करानेवाली एक घटना मुझे याद है। पिताजी सूरत में जब कलक्टर से मिलने जाते थे तब हमारी गाड़ी बँगले के अन्दर तक जाती थी। भड़ौंच में भी ऐसा ही हुआ करता था। बाद में एक नये कलक्टर महाशय आये। हमारी गाड़ी को बँगले के भीतर जाने से रोका गया। चपरासी ने कहा कि साहब का ऐसा ही हुक्म है।

पिताजी के क्रोध का ठिकाना न रहा। क्षण भर के लिए मुझे ऐसा लगा कि वे गाड़ी वापस लौटा लेंगे, लेकिन उन्होंने जेब में से रूमाल निकाला, मुंह पोंछा, गाड़ी से उतरे और अन्दर गये। गोरों की सरकार थी और पिताजी

---

१. Ranan : 'Life of Christ'

२. Tom Paine : 'The Rights of Man'

३. John Mill : 'Liberty'

४. Michalet : 'French Revolution'

उसके नौकर थे। मैं समझता था कि हम ऋषियों की संतान हैं। पिताजी कार्यकुशल और ईमानदार थे और स्वभाव से राजाओं के समान थे। इतना होने पर भी एक गोरे शासक के सामने हम उपयोगी होने पर भी दुतकारे जानेवाले कुत्ते की भाँति तिरस्करणीय प्राणी थे।

इस घटना के बाद से मैं अंग्रेजी हाकिमों को 'ब्रीआं-द-ब्वा-गिलबेरो'[1] कहता था।

इस अपमान द्वारा कलक्टर ने मेरे पूज्य पिताजी को देव सिंहासन से नीचे उतार दिया था, इसलिए मैं प्रतिहिंसा की भावना से बहुत दिन तक बेचैन रहा। परशुराम ने जिस प्रकार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया था उसी प्रकार मैं भी पृथ्वी को अँग्रेजहीन करने के खयाली पुलाव पकाने लगा।

इस घटना की स्मृति गहरे घाव की भाँति मेरे मस्तिष्क के स्तर-स्तर में समा गई और मेरी दशा ऐसी हो गई कि जैसे ही मैं रंगभेद देखता था वैसे ही मेरी आँखों से अंगारे बरसने लगते थे।

दिसम्बर १९२२ में अहमदाबाद में होनेवाली कांग्रेस का शंखनाद हुआ। पी० के० ने स्वयंसेवक तैयार करने की घोषणा की और मेरे कितने ही मित्रों ने स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाया। कांग्रेस, दादाभाई नौरोजी और फीरोजशाह मेहता के विषय में मैंने बहुत-कुछ सुना था। मैंने 'Eminent Indians on Indian Politics' नाम की एक पुरानी पुस्तक पढ़ी थी और धीरे धीरे मेरा घायल स्वाभिमान राष्ट्रप्रेम का स्वरूप लेने लगा था।

लेकिन जब मैं स्वयंसेवक बनने की आज्ञा मांगने भड़ौंच गया तो पिताजी ने इन्कार कर दिया। वे पुराने जमाने के सीधे-साधे हाकिम थे। 'मैं सरकार का नमक खाता हूँ,' उन्होंने कहा।

---

१. Brian De Bois Gilbert स्कॉट की 'Ivanho' नामक कहानी के एक दुष्ट और अभिमानी सरदार का नाम है।

मेरे मुँह से निकल गया—'अंग्रेज सरकार क्या विलायत से पैसा लाती है ?' मुझे 'ओग्रां-द-व्वा-गिलबेरो' और उसके कुत्ते की याद आ गई। लेकिन जैसे ही मेरे मुँह से ये शब्द निकले वैसे ही मैं घबरा गया।

पिताजी गुस्सा हो गए थे। रात को मां ने पिताजी को समझाया और निश्चय हुआ कि मैं स्वयंसेवक तो न बनूँ, परन्तु पिताजी के साथ कांग्रेस से एक दिन पहले होनेवाले प्रदर्शन में सम्मिलित होऊँ। पिताजी उसी रात को लौट आवें और मैं कांग्रेस में पहले दिन दर्शक की हैसियत से भाग लूँ।

अठारहवीं कांग्रेस के अपने संस्मरणों को मैंने संग्रह करके रखा है—

"........उसने जीवन में पहली बार आदमियों की इतनी बड़ी भीड़ देखी और भीड़ में ही उसने अदम्य उत्साह और अपराजेय भावना का अनुभव किया। उसकी दृष्टि में वे सभी आदमी देवता थे, जो देश की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए एकत्रित हुए थे। उस दिन उसे ऐसा लगा कि इस देश में और ऐसे समय में जीना भी एक सौभाग्य है।

"वह मंच से बिलकुल दूर पंडाल में आकर बैठा और चारों ओर हजारों हिलते हुए सिर देखे। इतने बड़े स्थान में, इतने बड़े पंडाल में उसे अपनी लघुता का भान और जिस देश की खातिर ये सब इकट्ठे हुए थे उसके प्रति श्रद्धा की भावना जागृत हुई। 'अपना', 'अपने लोग', 'अपना धर्म', 'अपना देश', आदि संज्ञाओं से वह परिचित था। ये सब पहली बार उसके मन में केन्द्रित हुईं और एक सर्वग्राही परम संज्ञा—'मेरा देश'—उसके मस्तिष्क में पैदा हुई। वातावरण में हलचल मची और उसने क्षण-भर जीवित शौर्य से उछलते हुए भारत के दर्शन किये। असंख्य मनुष्यों के कोलाहल में भी उसे करोड़ों को एकता के सूत्र में बाँधने वाली पवित्र भावना जकड़े रही।

"सहसा गगनभेदी घोष हुआ। दस हजार आदमी खड़े हो गए। हजारों ही हाथों में रूमाल फहरने लगे। हजारों कंठ 'हुर्रे हुर्रे' पुकारने लगे।

"सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पंडाल में आये। सुदर्शन ने अपने हृदय पर हाथ रखा। वह खड़ा न हो सका। बीच के रास्ते पर अनेक व्यक्तियों के बीच एक काले कब्बे वाला व्यक्ति लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ चल रहा था। वह मुख-मुद्रा, वह दाढ़ी और मस्तक सुदर्शन चित्र में देख चुका था। वहीं सुरेन्द्रनाथ—भारतीय मेज़िनी—कांग्रेस का अवतार!

"सुदर्शन कुछ देख न सका, सुनने की उसमें शक्ति न थी। उसकी आँखें नरमुण्डों के समुद्र के उस पार एक व्यक्ति पर लगी थीं। वह व्यक्ति उसके लिए मनुष्य नहीं, देवता था। वह कलकत्ते का प्रोफ़ेसर और नेता न था, वरन् क्षण-भर पहले उसे जिस स्वदेश का भान हुआ था उसकी प्रतिमूर्ति था। भारत—काले कब्बे और दाढ़ी चश्मे से शोभित भारत—सिंहासन पर आसीन था।

"१६०२ के सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का स्थान बाल-हृदय में क्या था, इसे आज का युग शायद ही समझ सके। सुरेन्द्रनाथ के बाद तिलक, तिलक के बाद ऐनी बेसेन्ट, ऐनी बेसेन्ट के बाद गांधीजी लोकप्रियता के एकच्छत्र अधिकारी होते गए हैं। इनमें पहले का प्रभाव अद्भुत था और पिछले तीनों—पत्रकार, विदेशी और स्वदेशी महात्मा—की अपेक्षा प्रोफ़ेसर पर विद्यार्थीवर्ग की श्रद्धा स्वभावतः अधिक थी।

"सुदर्शन केवल साधारण विद्यार्थी ही न था, उसमें बचपन से स्वप्न देखने की बुरी आदत भी थी। सुरेन्द्रनाथ उस स्वदेश के नेता नहीं, स्वदेश की प्रतिमूर्ति जान पड़े। इतने में गान सुनाई दिया—

" 'बोलो भारत की जय
क्या भय? क्या भय?'

"और उसकी समस्त वृत्तियाँ इस गान-प्रवाह में बह गईं। उसकी शिरा-

शिरा झंकृत होने लगी—'क्या भय ? क्या भय ?' " [1]

कांग्रेस में जाने का सबसे पहला प्रभाव मेरे ऊपर यह पड़ा कि भाषण देने में कई बार असफल होने पर भी मैं दत्तचित्त होकर वाक्चातुर्य पैदा करने में लग गया।

१६०२ में कालिज में अँग्रेजी बोलने वालों में सबसे अच्छे पी० के० थे। वे हमारी वादविवाद सभा के मन्त्री थे। एक बार 'शिवाजी' पर वादविवाद होने वाला था। उन्होंने मुझसे बोलने का आग्रह किया। मैंने दो-तीन पुस्तकें देखीं और पन्द्रह-बीस बातें नोट कर लीं। लेकिन जब वादविवाद प्रारम्भ हुआ तो मुझे ऐसा लगा जैसे मेरे हृदय की धड़कन बन्द हो गई है। मैं जैसे-तैसे खड़ा हुआ। मेरे हाथ-पैर थर-थर काँप रहे थे। माथे पर पसीना बह रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे मेरी स्मरण-शक्ति साथ छोड़ चुकी हो। मैंने कहा—'मेरे मित्र ने अभी-अभी कहा है कि शिवाजी को भवानी माता ने तलवार दी थी। बीसवीं शताब्दी में यह मान्यता बुद्धि के दिवालियेपन की सूचक है।' इतना कहकर मैं बैठ गया। पी० के० ने पीठ ठोकी। नितान्त असफल होने से मैं इतना लज्जित हुआ कि दो-चार दिन तो अकेले ही कालिज की छत बैठकर आकुलता का अनुभव करता रहा। उसके बाद मैंने रखी हुई पिताजी की बचपन की पुस्तक 'चेम्बर्स वाक्चातुर्य' [2] पढ़ना आरम्भ किया। उसमें दिये हुए पेट्रिक हेनरी [3], चेथाम, शेरीडन, बर्क आदि के वाक्यों को रट डाला।

अहमदाबाद में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भाषण आरम्भ करने का ढंग देखकर मैं उनके बोलने के ढंग पर मुग्ध हो गया था। उनके द्वारा किया गया

---

१. स्वप्नद्रष्टा पृष्ठ ११७-११८

२. Chambers : Elocution ३. Patric Henry जिस समय अमेरिका स्वतंत्र हुआ उस समय का एक नेता।

ments, our comforter amid distress, he speaks trumpet-tongued from amid the death—like silence of nothingness.'

उनकी आवाज़ बड़ी प्रचण्ड थी और दूर से सुनकर वह ऐसी मालूम होती थी जैसे बादल गरज रहे हों। उनकी भाषा विक्टोरिया के युग की और शब्दाडम्बरपूर्ण होने पर भी एकसी थी। वे भाषण लिखकर उन्हें रट डालते और बाद में घण्टों अबाध गति से लय के साथ बोलते जाते।

इस भाषण को सुनने के बाद ही मैंने वाक्चातुर्य उत्पन्न करने की व्यवस्थित योजना तैयार की और 'बेल्स लैटर्स' [1] में से डिमास्थनीज़ [2] और सिसेरो [3] के प्रकरणों का अध्ययन करना आरम्भ किया। मैं सुरेन्द्रनाथ और दूसरे भारतीय नेताओं के भाषणों को रटने लगा। भिन्न-भिन्न अवसरों के उपयुक्त वाक्यों को लिखकर मैंने याद कर लिया। शाम को सात बजे कालिज के अन्धकारपूर्ण शून्य हाल में सुरेन्द्रनाथ की भाँति भाषण करना सीखने लगा। भडौंच जाते समय नर्मदा के पुल के नीचे आवाज़ तेज करने के लिए जोर से चिल्लाता और शीशे के सामने खड़ा होकर अभिनय, आवाज़ और मुख के भावों का समन्वय करता। शेक्सपियर के नाटकों के भिन्न-भिन्न पात्रों के रूप में अपने को रखकर मैं उनका अभिनय करने लगा।

बड़ौदा कालिज में बातचीत में गुजराती का प्रयोग होता था, इसलिए मुझे अंग्रेजी में बात करना नहीं आया, परन्तु इस परिश्रम द्वारा मैं आडम्बरपूर्ण भाषा में भाषण देने लगा। भाषणों को रटकर बोलने के कारण मेरी भाषण-शैली में कृत्रिमता भी आ गई।

---

१. Blair : Belles letters.

२. प्राचीन ग्रीस का वक्तृत्व-कला विशारद।

३. प्राचीन रोम का वक्तृत्व-कला विशारद।

१६०६ में कालिज में मेरी गणना अच्छे बोलने वाले विद्यार्थियों में हो गई।

: ४ :

१६०२ में गणित में मेरे पूरे नम्बर नहीं आए और मैं फेल हो गया। उसी समय से मां का प्रयोग फिर शुरू हुआ। मेरी बड़ी बहन मां की सब प्रकार से सहायता करके उसका बोझ हलका करती हुई बाल-वैधव्य में भी सुख मानने लगी थी। जब वह विकल हो उठती तो मां उसके दुख को भुलवाने का प्रयत्न करती। मँझली विधवा बहन महीनों से खाट पर पड़ी थी। इस दुखियारी के लिए भी मां ही एक आश्वासन थी।

मां को इन दोनों लड़कियों की बड़ी भारी चिन्ता थी और वह हमेशा मुझे समझाती थी कि असहाय बहनों का सहारा मैं ही हूं। लेकिन क्या कभी किसीके मन की सोची हुई बात हुई है? दोनों बहनें कुछ दिनों के अन्तर से चल बसीं। सात बच्चों में मेरी तीसरी बहन और मैं दो बचे। मेरी स्वर्गीया बहनें एक-एक छोटे बालक का बोझ मेरी मां के ऊपर डाल गई थीं, इसलिए जब मां के जीवन में बुढ़ापे की हवा बहने लगी तब उनके ऊपर दो नये बच्चों के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व आ पड़ा।

१६०३ के आरम्भ में टीले का प्रताप मन्द होने लगा। बड़े काका, छोटे काका और अघुभाई काका कुछ ही महीनों में स्वर्ग सिधार गए। इस दुःख में पिताजी और माताजी के लिए मैं ही सबसे बड़ा आश्वासन था।

धीरे-धीरे मैं बदल रहा था, परन्तु मेरे हृदय का एक भाग तो जैसा था वैसा ही रहा। जब मैं कालिज की छत पर अकेला घूमता तब सचीन में मिली बाला की कल्पना-मूर्ति मेरे आगे आ खड़ी होती और मैं विह्वल होकर रोने लगता। जब मैं उपन्यास पढ़ता तब मुझे ऐसा लगता जैसे उसके

नायक-नायिका के अनुभव हमारे अपने ही हैं। मुझ कल्पनाशील के लिए यह सृष्टि यथार्थ थी।

१६०३ के मार्च या अप्रैल के महीने में मैं पिताजी के साथ फिर डुमस गया। उस समय मुझे चार दिन इस बालिका से मिलने का अवसर मिला। वैसे देखा जाय तो यह एक सामान्य बात थी, लेकिन मेरे जीवन के लिए यह सीमा-रेखा बन गई। डुमस से लौटने पर यह बालिका मेरी कल्पना की स्वामिनी बन गई। दिन में मुझे उसका हास्य सुनाई देता और रात को उसको बराबर स्वप्न में देखा करता। उत्तेजित कल्पना के इस स्वल्प अनुभव में रंग भरे—सात वर्ष से मैं उसी की रट लगा रहा था; वह भी मेरी रट लगा रही थी। हम दोनों परिणय सूत्र में आबद्ध होने के लिए बने थे। मैं उसके बिना तड़पता था वह मेरे बिना रो-रो मरती थी।

कहानियों से मेरा मस्तिष्क भरा था। नाटकों ने मुझे अनेक पाठ पढ़ाये थे। प्रेम के गीत तो मेरी ज़बान पर ही थे। इन सब बातों के एकत्र मिलने से मैं विरह-विह्वला गोपी जैसा हो गया और दिन-भर भग्न हृदय से गाता रहता—

मुझको भूल गया है मेरा छैला प्रियतम रे।
झूठी तेरी प्रीति कन्हैया, ओ नंद के लाला,
मुझको भूल गया है मेरा छैला प्रियतम रे।

इस प्रकार वर्षों आँसू बहाकर मैंने 'वैर का बदला' के कितने ही प्रकरणों की सजीवता की रक्षा की।

१६०३ के मई महीने की पहली तारीख की रात्रि को पिताजी और माताजी अप्रैल के महीने का हिसाब करने बैठे और नियमानुसार महीने-भर के खर्च से जो कुछ बचा वह मेरी थैली में डाल दिया। उसके बाद हम सब सोये।

आधी रात के बाद पिताजी के हृदय में घोर पीड़ा होने लगी। दौड़-

धूप हुई, डाक्टर आये और उन्हें नीचे उतारा। उसके बाद सात दिन तक उनकी तबियत सुधरती चली गई।

आठ मई की रात थी। भारतीय दृष्टि से उस दिन सम्वत् १६५८ की बैसाख सुदी तेरस थी। पिताजी आरामकुरसी पर बैठे थे। मैं पास खड़ा था। मां खाना लेकर आ रही थी। पिताजी ने अचानक बेचैन होकर 'ओ—ओ—ओ' की पुकार लगाई। मैं उनका हाथ पकड़ने दौड़ा। मां खाना जमीन पर रखकर दौड़ी और चीख पड़ी।

पिताजी ने सिर कुरसी पर रख दिया। बूआ और दूसरे सब लोग दौड़े आये। रोना-पीटना शुरू हुआ। सब पिताजी को हिलाने-डुलाने लगे और जमीन को गोबर से लीपकर उन्हें नीचे सुलाया गया। किसीने घड़ा लाकर उन पर उंड़ेला। 'श्रीराम, श्रीराम' की आवाजें चारों ओर सुनाई देने लगीं।

मां करुण रुदन करती हुई अपना माथा फोड़ रही थी और मैं किंकर्तव्य-विमूढ़-सा देख रहा था।

भड़ौंच की भार्गव जाति में शव को श्मशान ले जाने के लिए उसे एक बाँस और बल्ली से कसकर बाँधा जाता था। इस प्रकार शव को ले जाने में बड़ी सुविधा रहती थी। लेकिन जिस बाप को मैं ईश्वर की भाँति पूजता था उसीको जब मैंने उस पर पैर रखकर उसे बाँस और बल्ली के साथ बाँधे जाता देखा तो मेरे मन में आया कि मैं इस बात का घोर विरोध करूँ, परन्तु मैं एक शब्द भी न बोल सका।

पिताजी को भस्म करके जब हम लौटे तो मैं अकेला तीसरी मंजिल पर जाकर खूब जोर से रोया।

सहसा मेरे सिर का ताज उड़ गया और पैसे तथा प्रतिष्ठा से सुरक्षित मेरा जीवन दीन और निर्जीव बन गया। दो निराश्रित भानजों को पालने और उन्हें ठिकाने लगाने का भार भी मेरे सिर पर पड़ा। मां अब अकेली

थी, इसलिए उसे आश्वासन देना भी मेरा कर्तव्य था। इस जिम्मेदारी के कारण मैंने पढ़ना छोड़कर नौकरी करने का संकल्प किया।

सजल नयन मां लोकाचार के अनुसार कर्मकाण्ड और तेरहवीं करने की तैयारी करती और हमें आश्वासन देती। दोपहर को जब कोई पास न होता तब हिसाब के दफ्तरों की अलमारी खोलकर उसमें कुछ उठा-धरी करती रहती और हिसाब लिखा करती।

लिखना भी एक प्रकार का ध्यान है, यह बात पहले मैंने मां से सीखी और बाद में स्वयं अनुभव की।

मैंने अपनी योजना उसे बताई—ऐशोइशरत का सामान बेच दें, मैं कालिज छोड़कर नौकरी कर लूँ और जैसे-तैसे दुःख के दिन काटें।

मां मुझसे चिपट गई। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

'कनु, घबरा मत। न बर्तन-भाँडे बेचने हैं और न पढ़ना छोड़ना है। मैं बैठी हूँ न?' वह अकेली ही विधि की वामता से लड़ने के लिए तैयार हो गई थी।

माणिकलाल मुन्शी की प्रतिष्ठा के अनुकूल समस्त लोकाचार हुए। मरणभोज हुआ, दान दिया गया, हिसाब हुआ और पैसा चुकाया गया। सबसे निश्चिन्त होकर मां ने घर की व्यवस्था बदल डाली। हमारे पास कितना था, कितना बचा है, जो कुछ बचा है उसको कैसे खर्च किया जाय आदि बातों का जोड़-तोड़ वह मिलाने लगी। कुछ गहना बेच डाला और बीमे का रुपया लेकर उसे ब्याज पर उठा दिया। पिताजी के कपड़ों में से हमारे लिए क्या-क्या बन सकता है और खाने-पीने में कैसा फेर-फार करके किफायत हो सकती है, इसका निश्चय हुआ। रसोइये और नौकर को छुट्टी दी।

जब भाइयों में बटवारा हुआ था तब पिताजी ने अपने घर के पुराने नौकर मुहम्मदशफी को रख लिया था। वह धार्मिक मुसलमान था, वह कुरान

पढ़ता था और कभी नमाज पढ़ने के वक्त को नहीं जाने देता था। फुरसत के समय वह अल्लाह का नाम जपा करता था। जब वह हमें नाटक दिखाने ले जाता तब स्वयं बाहर बैठा रहता। वह फोटो खिंचाने के लिए कभी तैयार नहीं होता था। इस सबको वह अपने मजहब के विरुद्ध समझता था। वह रोज सवेरे सात बजे टीले पर आता। बारह बजे घर खाना खाने जाता, तीन बजे वापस लौटता और रात के नौ बजे छुट्टी पाता। वह बाहर का भी सारा काम करता था और घर का काम भी सँभालता था। त्यौहारों के दिन इस बात का भी ध्यान रखता था कि पंडितजी पूजा कर गए हैं या नहीं। ब्याह-शादी हो या श्राद्ध-आदि, बाजार से चीज-वस्तु लाने की सभी जिम्मेदारी वह ले लेता था और सारी व्यवस्था भी वही करता था। दावत कहीं दूर पर होती और लड़कों को जाना होता तो साथ में वही जाता था। मेरे छोटे भानजे को गोदी में लेकर खिलाने में भी वह मदद देता था।

हम उसे सात रुपया महीना देते थे। जब तक पिताजी जीवित थे तब तक उसका रौब सरकारी चपरासी के समान था। वह हमारे विश्वासी आदमी के रूप में प्रतिष्ठा पाता था। उसे इनाम आदि भी मिलता था।

जब मां ने रसोइये और नौकर को छुट्टी दी तो उसने ग्यारह रुपये की नौकरी ढूँढ ली और मां के पास आया। 'मां, मुझे छुट्टी दो। मैंने वीटल मिल में नौकरी ढूंढ ली है,' उसने झिझकते हुए कहा।

मां पान बना रही थी। उसने गंभीरता से ऊपर देखा। मैं वहीं बैठा था। 'मुहम्मद, बाद में तेरे छोटे मालिक को कौन सँभालेगा?' मां ने पूछा।

क्षण-भर मुहम्मद ने मेरी ओर देखा। उसकी आँखों में आँसू आ गए। 'बहुत अच्छा, मां,' कहकर वह चुप हो गया।

उसके बाद अधिक तनखाह की नौकरी के लिए उसके पास कितनी ही बार खबरें आई। हमारी शक्ति सात रुपया से अधिक देने की थी ही नहीं।

लेकिन न तो उसने दूसरी नौकरी की और न हमसे अधिक तनखाह ही मांगी।

मुहम्मद बात का पक्का था। उसके काम में कभी भूल नहीं होती थी। वह किसीका रौब बरदाश्त नहीं कर सकता था। हमारे नाते-रिश्तेदारों के यहाँ आवश्यकता पड़ने पर काम कर देता था, परन्तु यदि वे मान और आग्रह के साथ उसे न बुलाते तो वह खाना लेने भी न जाता। इनाम भी बड़े कहने-सुनने के बाद लेने की मेहरबानी करता। कोई यदि उससे बुरी तरह से बोलता तो वह फिर कभी उसकी ओर न देखता।

'छोटे मालिक' के लिए उसने दस वर्ष तक अडिग तपस्या की। गाँव में 'छोटे मालिक' का रौब ज्यों-का-त्यों रखा। जितना हो सका उतना उसने काम किया। उसने भानजों के पालन-पोषण में बड़ी मदद दी, घर सँभाला और कर वसूल किया। न उसने पैसा चुराया न माँगा। उसने और उसकी दो बीबियों ने बीड़ी बनाकर और कपड़े सीकर अपना खर्च चलाया। बारह वर्ष में उसके धीरज में फल लगे। उसके छोटे मालिक ने जितनी उसने माँगी उससे अधिक तनखाह दी। उसका कर्ज चुका दिया। उसे घर खरीद दिया। उससे कई बार विनती करके एक बार फोटो खिंचाने को राजी किया।

उसके बाद पन्द्रह वर्ष तक उसने ठाट-बाट देखा। उसने अपने मालिक के लिए नया बड़ा घर बनाने का काम लिया। उसने मुन्शियों के नये परिवार का पालन किया। अन्त तक टीले के उसी चबूतरे पर बैठकर उसने बीड़ियाँ बनाईं, कुरान पढ़ी और चन्द्रशेखर महादेव की पूजा कराई। सारे भड़ौंच में उसने एक संस्था के समान सम्मान पाया। सत्यवादी, धर्मात्मा, दृढ़ और कर्तव्य-परायण मुहम्मद अड़तीस वर्ष की नौकरी के बाद बहिश्त चला गया। ब्राह्मण के घर की रखवाली करनेवाला यह सच्चा मुसलमान हिन्दू-मुस्लिम एकता के अपूर्व संस्मरणों की विरासत दे गया।

घर में किफ़ायत की हद न थी। ४०० रु० वार्षिक आमदनी में से ८४

रुपया मुहम्मद को जाते, १५० से १७५ तक मेरा कालिज का खर्च होता और बाकी के रुपयों से भड़ौंच के घर का खर्च चलता, लोक-व्यवहार के काम होते और मेरे भानजे पढ़ते। तीन या चार रुपये कहारी को चौका-बर्तन के लिए दिये जाते। बाकी सारे काम मां अपने हाथों से करती थी। अधिक-से-अधिक किफ़ायत हो, प्रतिष्ठा की रक्षा हो और लड़का पढ़ जाय, इस भगीरथ काम को पूरा करने के लिए मां अपनी सम्पूर्ण कार्यकुशलता का उपयोग करती थी।

: ५ :

१६०३ में मैं प्रीवियस में पास हुआ और पी० के० बी० ए० होकर नौकरी की खोज में लगे। उसके बाद हम दोनों ने अनेक सुख-दुख सहे हैं; बहुत बार हमने साथ-साथ काम किया है; कितनी ही बातों में हमारा जीवन-क्रम भिन्न रहा है और है, तो भी आज उनके और उनकी पत्नी के मन में मैं सगा छोटा भाई हूँ और मेरे हृदय में पी० के० का जो स्थान था वह कभी कम नहीं हुआ।

१६०३ में बी० ए० में पढ़ते समय आचार्य के साथ मेरी मित्रता हुई। वे अँग्रेजी और फारसी में कालिज में प्रथम आये, इस कारण वे १६०४ में फेलो हुए और मैं उनके साथ नये बोर्डिंग के बीसवें कमरे में रहने के लिए गया।

आचार्य प्रचण्डकाय थे। वे कच्छी, अंग्रेजी और फारसी के गम्भीर विद्यार्थी थे। जो बात तुम कहो उसके विरोधी बनकर तुम्हारे सिद्धान्त का खण्डन करने का उन्हें शौक था। पी० के० और मैं यदि पुनर्विवाह की हिमायत करते तो वे सतीत्व की दलील देकर हमें निरुत्तर कर देते। हम यदि राष्ट्र-प्रेम की बात करते तो वे प्राचीन व्यवस्था की अपूर्वता सिद्ध करते। यदि हम यह स्वीकार करने को तैयार हो जाते कि उनका कहना उचित है तो वे

हमारे विरुद्ध दलीलें देने लगते। उनके साथ वादविवाद करने में बुद्धि और वादविवाद करने की शक्ति की परीक्षा हो जाती थी। इसलिए मैं प्रत्येक विषय में ज़ोर-शोर से तैयारी करता था।

आचार्य का साथ मेरे लिए बड़ा ही उत्साहवर्द्धक सिद्ध हुआ। हम साथ-साथ पढ़ने लगे। मैं उनके साथ चॉसर पढ़ता और वे मेरे साथ बर्क पढ़ते। सवेरे उठकर हम अंग्रेजी कविता की दस पंक्तियाँ रटते। सवेरे कसरत और शाम को दौड़ना भी साथ करते। प्रिंसिपल ने एक दिन आचार्य को पुराने रेकिट, बेकार गेंदें और फटा हुआ जाल दिया और हमने दरार पड़े हुए 'सिंधिया' कोर्ट पर टेनिस खेलना शुरू किया। आचार्य का स्वभाव बहुत ही कुश्ती-प्रेमी था, इसलिए उनके साथ बुद्धि की कुश्ती लड़नी ही पड़ती थी, और हम रात को देर तक वादविवाद किया करते थे।

आचार्य ने भाईशंकर को पहले की तरह क्लर्क ही रहने दिया और बोर्डिंग का शासन अपने हाथ में लेकर उसे व्यवस्थित करना आरम्भ किया। उनके साथ मैंने भी थोड़ा कार्य-भार सँभाला।

उन दिनों बड़ौदा कालिज का जीवन अत्यंत सरल और सीधा था। १६०६ में हम रोज़ चाय पीने लगे। उससे पहले चाय पीना बड़ी भारी दावत समझी जाती थी। कुछ मैसों में रोज़ का बिल ढाई आने से लेकर तीन आने का होता था—महीने में साढ़े पांच रुपये! नियमानुसार मेरा एक सहपाठी मैस का मैनेजर हुआ। उस समय प्रति सप्ताह एक विद्यार्थी मैनेजर होता था। इसके कार्यकाल में रोज़ का बिल तीन आने एक पाई होने लगा। मैस में चिल्ल-पुकार मच गई। मैनेजर के ऊपर अभियोग लगाये गए। आचार्य के पास अरजी गई कि इस भयंकर अव्यवस्था की जाँच होनी चाहिए। जैसे आडम्बर से भारत सरकार जाँच-समिति नियुक्त करती है वैसे ही आडम्बर से आचार्य ने जाँच-समिति नियुक्त की। मुझे भी समिति का एक सदस्य होने का सौभाग्य मिला। बारीकी से जाँच करने पर मालूम हुआ कि प्रति

सदस्य दो पाई रोज अधिक खर्च होने के दो कारण थे—एक तो रोज हरएक सदस्य को अलग से नमक परोसा जाता था और दूसरे मैनेजर रात का बचा-खुचा रद्दी साग लाने के बदले शाम का ताजा साग लाता था, जो मँहगा पड़ता था। जाँच-समिति की रिपोर्ट प्रकट हुई और मैस में प्रस्ताव पास हुआ कि कोई भी सदस्य अलग से नमक न ले और मैनेजर ताजा साग न लावे।

इतने में धीरजलाल नाणावटी, जो आई० सी० एस० की तैयारी करने बड़ौदे रहे थे, कालिज में आने लगे। उन्होंने सेंट जेवियर्स कालिज से बी०ए० पास किया था और कुछ ही दिनों में विलायत जाने वाले थे। वे मेरे मित्र बने और उनके कहने से मैंने विक्टर ह्यूगो पढ़ना शुरू किया।

तीसरे नये मित्र दाराशा थे। वे धनी पारसी युवक थे और मेडिकल कालिज में फेल होकर लौटे थे। वे बहादुर थे और उनके बोलने का ढंग अद्भुत था। वे मेजिनी के प्रेमी थे और सदा राष्ट्रीयता की चर्चा करते थे। उनके पास से मैंने मेजिनी की कितनी ही पुस्तकें पढ़ीं।

१६०४ में विश्व में और विशेषकर भारत में अद्भुत घटनाएं घटीं। वे घटनाएं मेरे विकास में सहायक हुईं। उस समय का वर्णन 'स्वप्नद्रष्टा' में मैंने इस प्रकार किया है—

"सन् १६०३ में उन्होंने (लॉर्ड कर्जन ने) तीन करोड़ रुपया खर्च करके सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में अपनी ताजपोशी का समारम्भ करके भारतीयों की 'पौर्वात्य' कल्पना को उत्तेजित करने का प्रयत्न किया।........ भारतीय प्रतिनिधि लालमोहन घोष ने मद्रास कांग्रेस के सभापति की हैसियत से उसे 'Pompous Pageant to a Perishing People—मरते हुए लोगों के लिए किया गया रंगीन तमाशा' कहा।[1]........एक दिन जापान ने अंधकार से बाहर आकर रूस को—यूरोप को—चुनौती दी। रूस-जापान युद्ध शुरू हुआ।.......इस युद्ध का बड़ौदा कालिज पर भारी प्रभाव

पड़ा। अखबार पढ़ने का शौक बढ़ गया। लायब्रेरी में जापान-विषयक पुस्तकें आईं। यह अफवाह उड़ी कि अरविन्द घोष जापानी भाषा सीखने लगे हैं।"[1]

भारतवासियों की उस समय की विचित्र मनोदशा की कल्पना कुछ ही लोगों को है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की अन्धेरगर्दी की हालत के आधार पर अंग्रेजी शिक्षा के विशेषज्ञों ने बताया था कि भारतीय जंगली हैं, उनके कुसंस्कारों के कारण ही उनका अधःपतन हुआ है और विदेशी भाषा, रंगभेद, स्वसंस्कार के प्रति द्रोह और विदेशी संस्कारों के प्रति आस्था रखने में ही उनका कल्याण है। सुरेन्द्रनाथ जैसे भी 'Benign British Government—शुभेच्छापूर्ण ब्रिटिश सरकार' की प्रशंसा करते थे। बहुत-से नेता मानते थे कि अंग्रेज 'Wise dispensation of Providence—ईश्वर की कौशलपूर्ण व्यवस्था' के कारण ही इस देश पर राज्य कर रहे हैं।

'जहर गया है, वैर गया है, गए कहर ढाने वाले।
यह उपकार समझ ईश्वर का, हर्षित हो तू हिन्दुस्तान॥'

यह भ्रम बना हुआ था। यह भ्रम मुझमें और भी अधिक था।

लेकिन बाद में हमें इस बात का कुछ-कुछ पता चलने लगा कि अंग्रेजों ने हमारे ऊपर मोहनी डालकर यह धारणा हमारे ऊपर मन में जमा दी थी। उगते हुए सूर्य की किरणें जैसे चेतना देती हैं वैसे ही यह सत्य भी हमारी चेतना को जागृत करने लगा।

'एशिया एशियावालों के लिए' का मन्त्र हमारे हृदय में बसा और हम इसकी प्रतीक्षा करने लगे कि कब जापान रूस को हराता है।

इस युद्ध से हमारा स्वाभिमान जागृत हुआ। काले गोरों से हेय नहीं हैं, एशिया यूरोप को मजा चखा रहा है। भारत अंग्रेजों का गुलाम रहने के

---

1. स्वप्नद्रष्टा—पृष्ठ १२३

लिए पैदा नहीं हुआ, इस प्रकार के विचारों से हम नये उल्लास का अनुभव करने लगे।

हमारे कालिज के प्रोफ़ेसर अरविन्द घोष उस समय गायकवाड़ सरकार के प्राइवेट सेक्रेटरी थे। पहले हमें उनसे घृणा थी, क्योंकि एक बार उन्होंने कालिज की वादविवाद सभा में भाषण दिया था, जिसमें प्रजातन्त्रीय शासन की अपेक्षा इंगलैण्ड की ताज की सरकार के शासन को अच्छा बताया था। लेकिन जब यह पता चला कि वे अंग्रेजी रहन-सहन को छोड़कर योगाभ्यास करने लगे हैं तो हमें उनके प्रति श्रद्धा होने लगी।

मोहनलाल पंड्या—जो पीछे चलकर गांधीजी के नेतृत्व में 'प्याज चोर' के नाम से विख्यात हुए—कृषि विभाग में नौकर थे और अरविन्द घोष के निकट के मित्रों में समझे जाते थे। वे हमसे अरविंद बाबू की सारी बातें कह देते थे।

कालिज की छत पर अकेले घूमते हुए मैं देश को स्वतन्त्र करने की बचपन-भरी योजनाएँ बनाया करता था। इस विषय में आचार्य की सहानु-भूति नहीं थी। वे मजाक उड़ाते थे, इसलिए मैं उनसे अधिक बातें नहीं करता था।

राष्ट्र प्रेम की प्रचण्ड लहर देश-भर में फैल गई। मैं भी उसमें बह गया।

राष्ट्रीय भावना से रंगने पर भी मैंने अपनी पढ़ाई में पूरा-पूरा ध्यान दिया। १६०३ में मैंने जैसे वक्तृत्व-कला के विकास का प्रयत्न किया था, वैसे ही अंग्रेजी लिखने का व्यायाम भी शुरू किया था। १६०४-०५ और ०६ में मैंने Belles Letters के शैली, सौंदर्य, सरसता और वाग्वैदग्ध्य सम्बन्धी विवेचन का स्वाध्याय शुरू किया। इस पुस्तक में दिये हुए नियमों के अनुसार मैंने निबन्ध लिखे। एक निबन्ध लिखता और उसके बाद यह देखता कि शब्द और वाक्य नियमानुसार हैं या नहीं। एक बार तो मिल की 'Liberty' आधे से अधिक लिख डाली। बिना किसीके पथ-प्रदर्शन के स्वयं

अध्ययन करने से मैं बहुधा ग़लत रास्ते पर चला गया और अपने शब्दों के लोभ को संवरण न कर सका। मुझे कार्लाइल, डिकिंस और मेकॉले के शब्द-सौंदर्य को अपनी रचनाओं में लाने की बुरी आदत पड़ गई। मैं प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा शब्दाडम्बर पर अधिक ध्यान देने लगा और भाषा-शुद्धि की जो क्रिया मन में करनी चाहिए उसे मैं कागज़ पर काट-छाँट करके करने लगा।

१६०४ से मैं अपने कालिज की 'अर्द्धवार्षिक' पत्रिका में लेख लिखने लगा।

इस प्रकार मुन्शियों की रंगीन शब्द-चित्रों में प्रबल उमंगों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति तथा मां की लिख-लिखकर हृदय को शान्त करने की प्रवृत्ति दोनों धाराओं को अपनाकर सुन्दर और प्रभावशाली रचनाएँ प्रस्तुत करने के मेरे बाल-प्रयत्न आरम्भ हुए। इतने वर्षों से अभ्यास करते रहने पर भी ये प्रयत्न सफल नहीं हुए, यह मैं जानता हूँ, परन्तु इस साधना में मुझे जो आनन्द मिला है, वही इन प्रयत्नों की सफलता है।

१६०४ में मैंने इन्टरमिडियेट सैकिण्ड डिवीजन में पास किया। दिसम्बर के अन्त में बम्बई कांग्रेस के अवसर पर हम सब मित्र मिले। पी० के०, अंकलेसरिया, पण्ड्या, आचार्य, दाराशा और मैं। यह देखकर हम बहुत प्रसन्न हुए कि कांग्रेस में नये राष्ट्रीय दल का जन्म हो रहा है।

: ६ :

टीले पर जहां नौकर और गवैये घूमते थे, जहां गांव के लोग मिलने आते थे, जहाँ मुखियागीरी होती थी और मौजें उड़ती थीं वह मुन्शियों की हवेली अब सुनसान पड़ी थी।

उसके बड़े अगले भाग में बैठी मां नितांत एकाकी जीवन के खण्डहरों में नई नींव रख रही थी।

वह सवेरे उठकर बिस्तर उठाती और नीचे आकर पानी गरम करती। काम करते-करते पुराने गीत गाती जाती—

'जागो यादव कृष्ण कन्हैया
तुम बिन गौएँ कौन चरावे।'

इस परिचित पंक्ति से वह कालिज में पढ़नेवाले अपने लाड़ले का रोज स्मरण करती। कभी-कभी वह ध्रुवाख्यान और नलाख्यान की कड़ियाँ भी दुहराती। पति के परलोकवास के बाद उसने नहाते-नहाते 'रामस्तवराज-स्तोत्र' बोलना छोड़ दिया था। उसका स्थान अब चन्द्रशेखराष्टक ने ले लिया था।

धेवती उठती तो मां उसे घर का काम सिखाती; धेवता जागता तो तुरन्त उसके लिए चाय तैयार करती। मुहम्मद आता तो तुरन्त उसे साग लेने भेजती। बाद में स्वयं नहाकर महादेवजी के मन्दिर में जाती और वहां आधे घण्टे जप करती। बच्चों को खिलाकर बाद में आप खाती और बच्चों को स्कूल भेजती।

वह दोपहर बाद उस जगह बैठती जहां कि माणिकलाल मुन्शी ने शरीर छोड़ा था। जहां पति अन्तिम बार बैठे थे, जहाँ वह उनके लिए अन्तिम बार खाना लाई थी वहां उसकी श्रद्धामयी आँखें पड़ती और आँखों से गंगा-जमुना की धाराएँ बह निकलतीं।

इसके बाद वह पिटारी खोलती। इस पिटारी में हिसाब की कापियां, कागज़, पेन्सिल, चाकू, पढ़ने की पुस्तकें और दूसरी चीजें रहतीं। वह रोज का हिसाब लिखती, पुराने हिसाब और कागज़ात देखती, फिर पंचदशी तथा योगवशिष्ठ पढ़ती और संक्षिप्त नोट लेती। कभी पुत्र या पुत्री के लिए उप-देशात्मक वाक्य लिखती तो कभी भार्गव जाति का इतिहास लिखने का भी प्रयत्न करती। तरंग आने पर कविता लिखने का भी प्रयास करती।

उसे अपनी कविता लिखने की असामर्थ्य का ज्ञान था—

'मुझमें शक्ति नहीं है किंचित नहीं लेश भी ज्ञान।
राग, रागिनी, छन्द अलंकारों से हूँ अनजान॥
केवल व्यक्त किया करती हूँ उर में उठी तरंग।
कवि रससिद्ध नहीं जो जानूँ भले-बुरे का ढंग॥
प्रियजन-विरह-व्यथित अन्तर को इसमें देती ढाल।
बन जाता वह सत्य, शान्ति औ' प्रेमपूर्ण तत्काल॥'

अकेलापन उसे अखरता था, परन्तु अपने 'बालमुकुन्द' का स्मरण कर वह अपने मन को आश्वासन देती थी। उसकी सजल आँखों के आगे उसका 'कानजी' आता। वह उसके बचपन, उसकी बातें, उसके रूप आदि का ध्यान किया करती। वह पढ़-लिख जायगा, कब बड़ा होगा और क्या करेगा, इन्हीं विचारों में वह लीन रहती।

पति को उसने प्रभु माना था। उसके बिना उसे संसार निर्जन लगता था। दाम्पत्य-जीवन की स्मृतियाँ उसके हृदय में सजीव हो उठतीं, पर वह उन्हें पवित्र समझकर हृदय-मंदिर में ही संग्रहीत करके रखती। शायद ही कभी वह उनका उल्लेख करती; उल्लेख भी करती तो तब जब वह खूब व्याकुल होती।

मां के इस प्रौढ़ हृदय-मंदिर में प्रवेश करने का—उसके दर्शन करने का—अवसर मुझे १९३६ में माँ के मरने के बाद मिला। इस मन्दिर में मुझे जो दर्शन हुए उनके सम्बन्ध में प्रत्यक्ष रूप से कुछ भी कहने का मुझे क्या अधिकार है? जिसे उसने अपने लिए संग्रह किया और सँभाल कर रखा उसे दूसरों का बनाना क्या मेरा धर्म है?

मैंने बहुत बार इसका विचार किया है। अपने और दूसरों के अन्तर की 'गुह्यात् गुह्यतरं' पूँजी को जगत के सामने क्यों रखा जाय? क्या इसे जगत के आगे रखने में लेखक की धृष्टता और दुर्बलता नहीं है? सोफोक्लिस और शैली, रूसो, गेटे और गांधीजी इन सभी जीवन-चरित्र लेखकों ने इस

।
'गुह्यात् गुह्यतरं' को क्यों जगत को सौंप दिया है ?

समस्त मानवता और महत्ता न तो उसमें होती है, जो कुछ मनुष्य करता है और न उसमें होती है, जो कुछ वह साधना से प्राप्त करता है। वह होती है हृदय-मंथन में—सरसता, अनुकूलता या प्रतिकूलता में। शब्द-ब्रह्म का कोई उपासक किसी भी व्यक्ति के शब्दचित्र को अंकित करते समय यदि उस व्यक्ति की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं पर परदा डालता है, उन्हें घटाता-बढ़ाता है या उन्हें बिगाड़ता है तो वह अपने कर्तव्य से च्युत होता है। यही कारण है कि संसार जब अपनी स्थिति को भूलकर दूसरे व्यक्तियों के गुण-दोषों के रजकणों की तुलना करने बैठता है तब वह अपनी घोर क्षुद्रता के प्रदर्शन के अतिरिक्त और कोई महत्व का कार्य नहीं करता।

यदि तापी बा मुंशी का व्यक्तित्व शब्दों द्वारा अंकित करना हो तो उसके हृदय के रहस्य और अन्तर के मंथन के बिना वह निर्जीव खोलमात्र रह जायगा।

१६०४ में यरवदा में जब 'अंतिम दफ्तर' को देखा तब दो-चार कागज़ मैंने पहली बार ही देखे। उनमें मुझे गत युग के दाम्पत्य-जीवन के कुछ आकर्षक रंगों के दर्शन हुए।

पहले कागज़ में 'स्वप्न' शीर्षक से पिताजी की लिखी एक कविता है। यह १६६३ में देखे हुए अपने स्वप्न की पद्यकथा है। उस समय पुत्री के वैधव्य की वेदना शुरू हुई थी।

राजकुमारी यात्रा को जाती है; वहाँ उसको विचार आता है—

'स्वामी सेवा करूँ या कि मैं तेजमयी साध्वी बन जाऊँ ?'

रात को राजकुमार तड़पता हुआ जागता है—

'अरे बता दो कहाँ गई है मेरी प्यारी सजनी ?
बीत गई है स्वप्न देखते कितनी मादक रजनी !'

राजकुमार राजकुमारी की खोज में निकलता है। नगरों और बनों में

भटकता है। उसे पता चलता है कि दक्षिण में एक युवती संसार त्याग कर साध्वी (तपस्विनी) बन गई है और 'भव-दुख-निवारणार्थ' तपस्या कर रही है। राजकुमार विह्वल होकर 'राजकुमारी ! मुझे छोड़कर चली गई तू' गाता हुआ भटकता है।

अन्त में तपस्विनी उसे मिलती है। वह राजकुमार को अपने साथ स्वर्ग चलने का निमन्त्रण देती है—

> **'राजन् ! शीघ्र उठो, चलो, कहे कामिनी आज।**
> **है अदृश्य होता तभी कंत सजाकर साज ॥'**

कविता का अन्तिम बन्द है—

> **'चौंक उठा वह उस समय, और होगया प्रात।**
> **शिव, शिव, शिव यह क्यों हुई घोर प्रलय की बात ॥**
> **भयकारी सपना हुआ, पूनम आश्विन मास।**
> **संवत् उन्नीससौ तथा ऊपर से उनचास ॥'**

पचास वर्ष से सँभाल कर रखा हुआ और पीला पड़ा हुआ यह पीला कागज मानव-हृदय की पवित्रता की सुगन्ध से ऐसा महक रहा है जैसे वह देवमूर्ति के कण्ठ में पड़ी हुई माला का सैकड़ों भक्तों द्वारा श्रद्धा से पूजा हुआ सूखा पत्ता हो।

'अन्तिम दफ्तर' में एक दूसरी अधूरी और असंशोधित कविता क्षण-भर के लिए संयम के आवरण को हटाती है और विरह-व्यथा के दर्शन कराती है—

> **'मैं तो देखूँ मृत्यु की बाट रे,**
> **प्रियतम कहाँ गया ?**
> **तू मिलेगा मुझे किस घाट रे,**
> **प्रियतम कहाँ गया ?**

× × ×

'मुझे बुलावा भेज दो, अब विलम्ब किस हेत ?
बिना जीव की देह यह, भटक रही ज्यों प्रेत ।
मैं तो देखूँ मृत्यु की बाट रे,
प्रियतम कहाँ गया ?
बिछुड़ गया है संग मम, रह गया कच्चा साथ ।
पागल सी घर में फिरूँ, मूक बनी हे नाथ ॥
मैं तो देखूँ मृत्यु की बाट रे,
प्रियतम कहाँ गया ?'

उमंगों के वश होकर, वह अतीत के स्मरण की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य का एकाग्र चित्त से ध्यान करने लगी ।

दोपहर के बाद कोई-न-कोई मिलने अवश्य आता था । कोई मदद लेने आता था तो कोई सलाह लेने । किसीको सास दुख देती थी, इसलिए वह अपना दुख रोने आती थी; किसीका लड़का बीमार होता था तो वह यह पूछने आती थी कि क्या किया जाय; किसीको सांसारिक व्यवहार में कुछ कठिनाई पड़ती थी तो वह रास्ता पूछने आता था; किसीसे दुःख नहीं सहा जाता था तो वह पल-भर सान्त्वना पाने आता था । तापी बा ऐसे सब लोगों को आदर देती और उनके दुःख को सुनती । ध्यानपूर्वक सब बातें सुनकर गुत्थी सुलझा देती और प्रत्येक हृदय में गहराई तक पहुँच जाती ।

बूआ—भयंकर रुखीबा—हवेली के पिछले हिस्से में, अपने कमरे में बैठी-बैठी, अपने कटुवचनों द्वारा कहे हुए भविष्य को सच होते देखती थीं । करसनदास मुन्शी के सभी बच्चों में अकेला यही जीवित रह गया था । उन्होंने टीले का अन्त होते देखा था फिर भी उनका द्वेष कम न हुआ था ।

अब घर-भर में केवल दो ही प्राणी बचे थे । वह स्वयं और 'चिमन

मुन्शी की लड़की' दोनों असहाय और अकेली थीं। इतना होने पर भी रुखीबा अब तक बातचीत नहीं करती थीं। आते-जाते कुछ-न-कुछ अपमान-जनक बात कहे बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। पाँच बजते ही रुखीबा चबूतरे पर आ बैठतीं और तापीबा से मिलनेवालों को या तो भड़का देतीं या और कुछ न होता तो उनके मन का भेद लेकर उनके हृदय में तापीबा के विरुद्ध विष का बीज बो देतीं। तापी क्या करती है, क्या खाती है, क्या बातें करती है आदि की रुखीबा को सदैव चिंता रहती थी।

शाम को बच्चे आते तो उन्हें खाना खिलाकर तापीबा खेलने भेजती। दीया-बत्ती के समय महादेवजी का दीपक जला आती और बाद में कुछ पकाती। सब खा लेते तो तापीबा बर्तन माँजती। यह काम पूरा होने को होता कि ठाकुर भाई आते।

ठाकुर भाई तापीबा के सौतेले भाई थे, परन्तु उसे वे सगे भाई से भी अधिक प्रिय थे। सौतेली मां के मरने पर तापीबा उसके पुत्र को बुलाकर ससुराल आती। सौतेली मां—चिमनलाल मुन्शी की तीसरी लड़की—के साथ जब ठाकुर भाई की न बनी तब तापीबा की सहायता और सहानुभूति ठाकुर भाई के लिए थी। पिताजी जब भड़ौंच में डिप्टी कलक्टर थे तब ठाकुर भाई ने वहाँ वकालत शुरू की थी और अब भड़ौंच में वकील के रूप में उनकी प्रतिष्ठा होने लगी थी।

ठाकुर भाई रोज रात को बहन से मिलने आते। बीच में पानदान रख-कर दोनों घण्टे-दो घण्टे बैठते और बातें करते। ठाकुर भाई गाँव की या जाति की बातें करते जबकि तापीबा मिलने आनेवालों की बातें करती। कभी दोनों योगवशिष्ठ के विषय में भी चर्चा करते। बहुत बार तो दोनों देर तक साथ बैठते। अन्त में जब भाभी थककर ठाकुर भाई को बुलाने आदमी भेजती तब कहीं ठाकुर भाई उठकर जाते। तापीबा भड़ौंच में होती तो बहन-भाइयों का यह कार्यक्रम रोज चलता था।

बहन और भाई के बीच का यह अद्भुत स्नेह दोनों के जीवन की निधि और सान्त्वना थी।

सप्ताह में एक दिन तापीबा के प्राणों पर आ बनती। लोकरीति के अनुसार हृदय पर पत्थर रखकर उसे सिर झुकाकर नाई के सामने बैठना पड़ता। उस दिन प्रतिक्षण उसका मन मरने को होता। उस दिन उसका हृदय रोता और दुखी होता। पति क्रूर हो गए थे, ईश्वर भी क्रूर था और समाज ने तो जैसे क्रूरता की हद कर दी थी। ऐसे ही किसी अवसर पर उसने आँखों से आँसू बहाते हुए ये उद्‌गार व्यक्त किये थे—

'मैं संसार बीच मतवाली लेती तेरा नाम।
देना मुझे सहारा स्वामी बिगड़ न जाये काम॥
करना दया दीन के ऊपर अन्त समय की बेला।
रमे चित्त चरणों में तेरे जीव न रहे अकेला॥'

यों दिन, सप्ताह और महीना बीतते और 'भाई' के कालिज से लौट आने के दिन पास आ जाते; आकाश नये रंग से रंगा हुआ दिखाई देता। 'भाई' का पेट था खराब, इसलिए उसे अच्छी लगनेवाली मिठाइयां बनाने की तैयारी होती, घर लीपा जाता और बैठक के बड़े शीशे पर चढ़ा हुआ गिलाफ़ उतरता और कई दिन तक भाई के आने की गूँज सुनाई देती।

वह आता और उसकी आँखें ठण्डी होतीं।

वह जैसे ही आता वैसे ही प्रेमावेश में दौड़ता हुआ घर में जाता—मानो अपने 'पिताजी' की छोटी तसवीर हो। 'भाई' कभी किसी मित्र को भी साथ ले आता। जब मां-बेटे मिल-भेंट लेते तब कहीं मां में उत्साह और शक्ति आती। मां की भुलाई हुई भोजन बनाने की कला फिर खिल उठती। मां-बेटे आमने-सामने बैठते और बातें करते जाते—पढ़ने की, मित्रों की, प्रोफेसरों की, खेल-कूद की।

बेटा इंग्लैंड और फ्रांस का इतिहास बताता और नई राष्ट्रीयता के दर्शन

कराता। कांग्रेस, सुरेन्द्रनाथ, अरविन्द घोष और विपिन चन्द्रपाल की बातें कहता। दूसरी भी अनेक प्रकार की अजीब-अजीब बातें उड़ाता—ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, वर्णाश्रम, पुनर्विवाह आदि के विषय में। तापीबा इन सभी बातों को ध्यान से सुनती, नये सुझाव रखती और पुत्र के उत्साह से उत्साहित होती।

'भाई' उसके मन के लिए अद्भुत वस्तु था। उसे देखकर वह स्वयं को यशोदा माता समझ सकती थी। एक दिन सवेरे उसने अपने हृदय की इन भावनाओं को एक कविता में लिख डाला—

'मात यशोदा कृष्ण जगावे, जागो नन्द दुलारे रे।
गृह-आँगन में सूरज ऊग्यो, तिमिर गयो मेरे प्यारे रे॥'

'भाई' दिन-भर गाने गाता रहता और आनन्द में डूबा रहता। वह कभी तीसरी मंजिल पर बैठकर पढ़ता या भाषण देता रहता। शाम को मित्रों के साथ घूमने जाता। रात होते ही तापीबा अधीर हो उठती। खाना बनाने के बाद वह सड़क की ओर की जाली में बैठ जाती और उसके आने की बाट देखती हुई उसकी पगध्वनि सुनती रहती।

एक बार तापीबा ने लिखा था—

'जग को मोहित करे कन्हैया, वेणु बजाता है!
यादव कुल अवतंस अनोखा, वेणु बजाता है!
सर्व गुणों की खान सलोना, वेणु बजाता है!
यशुमति मां का लाल दुलारा, वेणु बजाता है!
चले ठुमकती चाल मनोहर, वेणु बजाता है!'

आठ बजे तक यदि 'भाई' न आता तो तापीबा की घबराहट का ठिकाना न रहता। क्यों नहीं आया? क्या हुआ? ये प्रश्न उसके मन में उथल-पुथल मचा देते।

एक दिन 'भाई' देर से आया। लगभग नौ बज गए और तापीबा का

हृदय बैठ गया। 'लड़का कभी देर नहीं करता था तो आज देर कैसे हो गई ?' जाली में बैठे-बैठे उसे ऐसी बेचैनी होने लगी जैसे उसके प्राण निकल रहे हों। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। अन्त में—अन्त में 'भाई' के आने की आहट सुनाई दी और उसकी जान-में-जान आई। उसने आँसू पोंछ डाले।

'भाई, आ गया न ?'

इन शब्दों में व्याप्त वेदना को 'भाई' ने पहचाना।

'मां, जरा देर हो गई। वादविवाद करने में समय का ध्यान न रहा।' 'भाई' ने कहा।

'चल, भाई, खाना ठण्डा हुआ जाता है। खा ले।' तापीबा ने कहा।

प्रेम के ये बोल मुझे तमाचे से भी ज्यादा चोट करने वाले लगे।

बेटे ने मां की अधीरता का अनुभव किया और उसके बाद कभी आठ बजे के बाद न आने का व्रत लिया।

पैंतीस वर्ष हो गए। इस बीच 'भाई' अनेकों की सहायता करने में समर्थ हो गया, परन्तु उसके आठ बजे घर न आने पर मां पूछ ही उठती है, 'भाई, क्यों नहीं आया ?' बेटा भी आठ के बाद घर पहुँचता तो उसे भी प्राण निकलने के बराबर दुख होता।

किसीको रौब या क्रोध से वश में करने का तापी ने कभी प्रयास नहीं किया। वह सबके साथ मीठा और स्नेहपूर्ण व्यवहार करती, सबको प्रेमसूत्र में बाँध लेती। इस कारण, यह भय कि तापीबा को कहीं दुख न हो, सामने वाले को जंजीर से भी अधिक दृढ़ता से जकड़ लेता।

तापीबा का सबसे बड़ा प्रयत्न यह था कि 'भाई' को उसी प्रकार रखा जाय जैसे कि उसके पिता रखते थे। उसे साग लेने न जाना पड़े, उसे कपड़े खरीदने न जाना पड़े, उसकी प्रतिष्ठा को कोई धक्का न लगे, ग़रीबी के कारण होनेवाली कठिनाइयाँ उसे झेलनी न पड़ें। तापीबा बेटे की सब तरह देखभाल करती। सब काम स्वयं ही कर लेती। बेटे को तनिक भी मेहनत

करने का मौका न देती। उसे सदैव यह चिन्ता रहती थी कि 'भाई' के पढ़ने में किसी प्रकार की रुकावट न हो।

'भाई' हमेशा बग्घी में आता-जाता। कहीं किराये की बग्घी में बैठने से वह अपने को छोटा न समझ ले इस भय से तापीबा ने हमीर से पहले ही सब-कुछ तय कर लिया था। जब 'भाई' आता तो हमीर उसे स्टेशन से अपनी गाड़ी में ले आता और 'भाई' को जाना होता तो भी हमीर की बग्घी हाज़िर रहती। वह आता और 'भाई' को रेलगाड़ी तक अच्छी तरह पहुँचा आता।

थोड़े ही पैसों में 'भाई' को बग्घी, और- बग्घीवाले की सुविधा और प्रतिष्ठा मिल गई। 'भाई' गाँव में पच्चीस वर्ष तक हमीर के मालिक रूप में विख्यात रहा।

पुत्र के आचार-विचार देखकर भी तापीबा हर्षित होती; उसकी संस्कारिता बढ़ी ही, घटी नहीं। वह पहले से भी अधिक माँ का मान रखने लगा। बचपन के प्रिय शब्द 'माँ' को छोड़कर घेवते-घेवती तापीबा के लिए सम्मानसूचक शब्द 'जीजी माँ' प्रयोग करने लगे थे। बेटा भी उसी शब्द का प्रयोग करने लगा।

बहुत बार जड़ी बहन—बेटी—को प्रसव अथवा अन्य कोई कार्य होता तो वह बच्चों को लेकर तापीबा के पास भड़ौंच आती। जड़ी बहन स्वभाव से स्नेही और सुकुमार थी। उसके प्रेम की सीमा न थी। भाई और बहन का स्नेह देखकर तापीबा अपना दुःख भूल जाती। सारे दिन बातें होतीं। बच्चे हँसते, बोलते और खेलते। रात को सब बैठक में इकट्ठे ही सोते और 'भाई' कहानियां सुनाकर सबका मनोरंजन करता।

परन्तु 'भाई' भी तापीबा के चिन्ता के बोझ को बढ़ाता था। उसका शरीर बहुत ही कोमल था, इसलिए तनिक-सी बात होने पर ही बीमार हो जाता। हर साल परीक्षा समाप्त होने पर उसे बहुत दिन तक ज़ोर का

मियादी बुखार आता । ऐसे समय तापीबा के प्राण कण्ठ में आ जाते । 'महादेव बाबा, क्या इस दुखियारी की आंख की पुतली भी लेने बैठे हो ?' उसकी परेशानी कही न जा सकती । वह इक्कीस या अट्ठाईस दिन तक रात-दिन एक करके 'भाई' की सेवा करती ।

'बीमार' और 'प्रसविनी' की देखभाल करने में तापीबा का कौशल अद्वितीय था । 'भाई' बीमार हो जाता तो उसे स्वयं अपने हाथों उठाती, दातुन कराती, नहलाती, खाना तैयार करती और खिलाती, सिर और पैर दबा देती, देशी दवाओं के बहुत से आजमाए हुए नुस्खों का प्रयोग करती । रात को 'भाई' सो जाता तो उसके पैरों के पास सिर रखकर सो जाती और यदि वह तनिक भी हिलता तो उसकी पीठ पर हाथ फेरकर उसे आश्वासन देती ।

'भाई'-सम्बन्धी एक भारी चिन्ता खड़ी होती जा रही थी । उसकी बहू बारह वर्ष की हो गई थी, इसलिए उस समय के शिष्टाचार के अनुसार थोड़े ही दिनों में उसे ससुराल बुलाने की जरूरत आ पड़ी थी । बहू के मां-बाप का घर सामने के ही मुहल्ले में था, इसलिए तापीबा रोज बहू को देखती और उसकी चिन्ता बढ़ जाती । बहू थी तो सुन्दर, लेकिन कद बहुत छोटा था और उसके पढ़ाने की तो किसीको चिन्ता ही न थी । संस्कारी ससुराल में जिस प्रकार की रीति-नीति चलती थी उस प्रकार की रीति-नीति उसे कोई सिखाता नहीं था । 'भाई' बड़ी-बड़ी विद्वान स्त्रियों की बातें करता था और बहू की ओर से उसे अधिकाधिक अरुचि होती जाती थी । क्या होगा ? क्या यह बहू घर संभाल सकेगी ? 'भाई' का क्या होगा ?

मां ने बहू को घर रखकर पढ़ाने का निश्चय किया, जिससे कि 'भाई' को वह पसन्द आ जाय । लेकिन यह बात जानकर उसके पीहरवाले गुस्से हो गए । 'बहू' ससुराल में अपने मालिक के साथ रहने तो अवश्य आ सकती है, पर सास की गुलामी सहने के लिए कौन आकर रह सकता है ? पढ़ी-लिखी

बहू चाहिए थी तो लेने क्यों आये थे?' उन्होंने जवाब दिया।

पीहरवालों को रुखीबा उकसाती—'इस चिमन मुन्शी की लड़की को मैं जानती हूँ। तुम्हारी लड़की की ज़िन्दगी जरूर खराब करेगी।'

इस कारण तापीबा के लिए 'भाई' के मनाने का काम बड़ा मुश्किल हो गया। बहू के विषय में 'भाई' के विचार नाटकीय थे। उसे तो ऐसी बहू चाहिए थी, जो साथ गाती, बजाती और अंग्रेजी में बातें करती। उसे मिली उससे बिलकुल दूसरे ढंग की बहू, इसलिए 'भाई' बहुत ही व्यथित रहता। 'बहू अपढ़ है, मूर्ख है, उसकी माँ ने उसके दांतों में मिस्सी लगा दी है, इसलिए मैं उसे नहीं बुलाऊँगा।' इस प्रकार की बातें वह करता। बहुत बार तो 'भाई' बेचारा दुखी होकर आँसू तक बहाता। इस संकट का सामना करने के लिए तापीबा दृढ़ता से तैयार हुई। उसने बहू को बुलाया और अपने पास रखा। पीहरवाले तीन-पाँच करने लगे। उसने उसका वहाँ जाना बन्द कर दिया। रुखीबा उसे फुसलाकर उससे घर की बातें निकलवाने का प्रयास करने लगी तो मां ने रुखीबा के साथ भी उसका बोलना-चालना बन्द कर दिया।

अजन्ता के स्रष्टा किसी बौद्ध भिक्षु की-सी कला-कुशलता से वह कठिन और बेडौल पत्थर में से सजीव और संस्कारी बहू की मूर्ति गढ़ने लगी—ऐसी मूर्ति जिसे वह स्वयं अपने बालमुकुन्द को गर्व से भेंट कर सके।

अपनी बुद्धि के गर्व में चूर और अपनी विकसित उमंगों और कल्पनाओं से घिरा हुआ बेटा मां को बराबर दोष देता रहा।

ता० १६ अप्रैल १६०४ को उसने अपनी डायरी में लिखा—

'अती घर आनेवाली है पर वह बिलकुल अपढ़ है। उसकी माँ उसको पढ़ाती नहीं और माँ को भी नहीं पढ़ाने देती।'

अप्रैल १६०४ से एक वर्ष तक तापीबा ने अथक प्रयास किया। तापीबा छोटी-सी बहू को बोलना और बैठना, चोटी करना और माँग भरना,

खाना बनाना और बर्तन माँजना, पढ़ना और लिखना, ये सभी कलाएँ सिखाने लगी। लेकिन बचपन के संस्कारों का बदलना पत्थर की मूर्ति बनाने से भी अधिक कठिन हो गया। जब उस बेचारी नासमझ लड़की के मुख से कोई असंस्कारी बात निकल जाती तो मां को घोर दुःख होता, बुरा लगता और उसकी हिम्मत टूट जाती। उसके बाद वह 'तारा' का नाम लेकर रोती और 'भाई' के जीवन का क्या होगा इस विचार से फिर बहू को गढ़ने बैठती।

'भाई' भी बड़ा जिद्दी था। वह संसारी होने के लिए तैयार ही नहीं था। इस प्रकार तो वह प्रतिष्ठा खो देगा, दुखी होगा और दुराचारी बनेगा। बेटे को बचाने की जरूरत थी। तापीबा ने इसके लिए अपनी समस्त समझाने की शक्ति और अगाध प्रेम के दबाव का उपयोग किया।

परिणामस्वरूप ६-२-१६०५ को पुत्र डायरी में अपने हृदय की बात लिखता है—

'स्त्री का घर आना जरूरी है, लेकिन मेरा जीवन कैसे चलेगा? इसका परिणाम क्या होगा? मेरी स्त्री कैसी निकलेगी? मेरे विचार विचित्र हैं, फिर मैं कैसे अपने जीवन को सुख से बिता सकूंगा?'

उसके बाद डायरी में संकल्प का उल्लेख होता है—

'जिस लड़की को मैं स्वीकार करने जा रहा हूँ वह यदि तनिक भी मेरी धारणा के अनुकूल न निकली तो मैं अपने ऊपर अत्याचार करके भी अपने जीवन को सीधी तरह चला ले जाऊंगा।'

इस प्रकार तापी बा ने अपने लाड़ले बेटे पर विजय पाई।

: ७ :

यह संक्रान्ति काल की कथा है। यदि वर्षों तक इसका शिकार न बना होता तो इसको और भी अच्छी तरह लिख सकता।

इस समय लक्ष्मी के—मैं अतिलक्ष्मी को लक्ष्मी कहता था—पिता के घर को नये संस्कारों ने तनिक स्पर्श नहीं किया था। लक्ष्मी का कद

बिलकुल छोटा था, इसलिए सब उसे निर्जीव समझते थे। तेरह वर्ष की होने पर भी वह केवल आठ वर्ष की लगती थी। जब वह तीन-चार वर्ष की थी तब उसकी सगाई हुई और आठवें वर्ष में उसका ब्याह हो गया। वह ऊँचे कुल की थी और टीले के मुन्शी के साथ उसका सम्बन्ध हुआ था। जिसे सब 'कनु भाई' कहते थे वह उसका पति था और बड़ौदे में पढ़ता था।

पति जब भड़ौंच आता तो वह उसे किवाड़ों की ओट से, दावत में या ससुराल जाने पर जी भरकर देखती। ससुराल में पति जिस थाली में खाता उसीमें पीछे स्वयं खाती और उसकी पत्नी होने के लिए सदा तैयार रहती। उसकी सहेलियां उससे ईर्ष्या करती थीं, क्योंकि उसका पति जाति में बहुत ही अच्छा समझा जाता था।

उसे सास का बड़ा डर लगता। तापी बाई मुन्शिन को जाति के कितने ही मखौल उड़ाने वाले 'मर्द' कहते। कारण, वह चश्मा लगाती और पुरुषों की भांति हिसाब रखती। 'तेल-मिर्च खाने से तुझे हमेशा खाँसी हो जाती है,' कहकर वह चटपटी चीज़ें भी न खाने देती। बिना तेल-मिर्च के खाना कैसे अच्छा लगे? सास नहाते वक्त साबुन भी न लगाने दे। साबुन लगाने से क्या कोई गोरा हुआ है? उसके सामने कुछ बोला भी न जाता। जब वह बोलती तो हम उसके सामने मूर्ख लगते। सब तू-तू मैं-मैं करते, खींचातानी करते, हल्ला-गुल्ला करते। इसमें बुरा भी क्या है? लेकिन सास कभी ऊँचे स्वर से बोलती नहीं और यदि हमसे वैसा हो जाता तो वह चुप हो जाती और झट उसे बुरा लग जाता।

भार्गवों की सभी लड़कियाँ बारहवें वर्ष ससुराल जाती हैं, लेकिन सास ने उसे तो बहुत दिन तक बुलाया ही नहीं। इससे सहेलियों के सामने उसे बुरा लगने लगा।

एक बार सास ने कहा—'दांतों में मिस्सी मत लगाना। तेरे पति को अच्छा नहीं लगता।'

'ऐसा कहीं होता है,' कहकर उसकी मां ने दांतों में मिस्सी लगवा दी।

दूसरे दिन उसे ससुराल बुलाया गया। सास ने कहा—'तीसरी मंजिल पर जा, 'भाई' बुलाता है।' बहू के होश उड़ गए। ऊपर गई तो देखा कि बड़े पलंग के पास वे खड़े हैं। उनके मुख से प्रकट था कि वे बहुत गुस्से में हैं।

'तुझसे मां ने कहा था कि दाँतों में मिस्सी मत लगाना?'

बहू से जवाब न दिया गया। 'तो क्यों लगाई?' उन्होंने भयंकर आवाज से पूछा। बहू काँपने लगी।

'मेरी मां ने कहा था।' बहू बोली।

'तुझे इस घर में रहना हो तो मेरा कहना मानना पड़ेगा।' उन्होंने गर्जना की। 'जा, और कल से यहीं मां के पास रह। जा, दाँत अभी साफ कर डाल और खबरदार, मां के बिना कहे पीहर में पैर रखा तो! जा।'

बहू आज्ञा सुनकर सास के पास लौटी। न दाँतों में मिस्सी लगवानी न पीहर जाना! नीचे सास के पास पहुँची तो उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे थे।

सास ने उसे बहुत सान्त्वना दी। ससुराल में रहने के कायदे बताये और कहा—'देख, कल से स्लेट और पेन्सिल मंगा दूँगी। दाँत भी साफ करा दूँगी। तू थोड़े ही दिन में खूब होशियार हो जायगी।'

छोटी-सी नासमझ बहू के दिमाग में भी एक बात शीशे की तरह साफ थी और वह यह कि—'उसका 'पति' जो कुछ कहता है सो सही है।'

दूसरे दिन से वह सास के पास आकर रही। मां-बाप का घर छोड़ा। रुखीबा के साथ बात न करने की कसम खाई और हाथ में स्लेट-पेन्सिल ली।

बारह महीने तक वह दिन-रात सास के पास रही। उन्होंने जो कुछ कहा उसे उसने आँखों से आँसू बहाते हुए भी बराबर किया। उसे इस सास के प्रति आकर्षण होने लगा। वह उसके आकर्षण में फँस गई। उसने अपने

समस्त जीवन में इतना प्रेम करनेवाला और अपनी इतनी चिन्ता रखनेवाला व्यक्ति नहीं देखा था। सास ने बहू को सब-कुछ सिखा दिया—'भाई, क्या खाता है, उसकी व्यवस्था कैसे करनी चाहिए, उसे क्या-क्या चीज़ें पसंद हैं, उसका बिस्तर कैसे बिछाना चाहिए। बहुत दिन तक सास घण्टों 'भाई' की बातें करती और बहू उनको ध्यानपूर्वक सुनती।

लक्ष्मी में आर्य स्त्री की जो विशेषताएँ अस्पष्ट थीं उनको सास ने स्पष्ट कर दिया। इस अनुभवी सास ने एक अपनी इस बहू के लिए एक मन्त्र लिखा—

'पतिव्रता का धर्म पालकर आज्ञा शीश चढ़ाना।
प्रेम पूर्ण कर ससुरालय को, करके काम दिखाना॥
मनसा, वाचा और कर्मणा जीवन शुद्ध बनाना।
अध्यवसाय वृत्ति धारण कर, निज उत्साह बढ़ाना॥
सभी सद्गुणों का संग्रह कर, हर्ष हृदय में भरना।
अर्द्ध अंग पति का शोभित कर, कुल को दीपित करना॥
बन विशालहृदया तुम अपना शुभ प्रभाव दिखलाना।
पिला और पी स्वयं प्रेमरस, शोभित जगत बनाना॥
लोभ, मोह को त्याग हृदय से तुम अभिमान हटाना।
विनयशीलता से सुन्दरतम ऊँचे पद को पाना॥'

पहले पचास वर्ष में तापीबा का जीवन-मंत्र यही था।

सरदी गई और गरमी आई। 'वे' कालिज से घर आये। आज वह अपने पति से मिलने वाली थी। वे क्या कहेंगे? नाराज होंगे? उसकी बहुत-सी सहेलियों पर मार पड़ती थी; क्या वे मारेंगे?

२१ अप्रैल की रात थी। अन्त में—अन्त में उसके पति उससे मिलेंगे। उसका हृदय हर्षित था, साथ ही भय से काँप भी रहा था। वह धीरे-धीरे तीसरी मंजिल पर गई। 'वे' झूले पर बैठे थे।

'आ, बैठ।' उन्होंने बिना हँसे ही कहा।

वह घबराती हुई उनके पास जाकर बैठी।

'तुझे पढ़ना आता है?'

'जी। दूसरी पुस्तक पढ़ती हूँ।' और उसका नन्हा-सा दिल घबरा गया। क्या उसने अपमान किया था? उसके पति के होठ काँप रहे थे। यह क्या? वे एकदम रो पड़े। हाय भगवान, क्या हुआ? 'घबरा मत, मेरी तबियत ठीक नहीं है।' उन्होंने रोते-रोते कहा और उसके कन्धे पर सिर रख दिया।

उसकी किसी सहेली ने तो उसे यह बात नहीं बताई थी कि पति मिलते समय रो देता है।

जीजी मां सदैव मेरे लिए जान देने को तैयार रहतीं। फरवरी से मैंने उनकी आज्ञा-पालन करने का निश्चय किया था। मां और जिस लड़की के जीवन का मैं आधार था उसे दुखी करने में मुझे पाप दिखाई देने लगा। दिन-रात मेरा जी उचाट रहने लगा। मन को स्वस्थ करने के लिए मैं पढ़ा या लिखा करता, लेकिन मन को किसी प्रकार भी शान्ति न मिलती।

शृंगार के गीतों द्वारा मैं एक विचित्र प्रकार के काल्पनिक जीवन के प्रति आकर्षित हो गया था। नायिका के गीत को मैं इस प्रकार गाता जैसे देवी मुझे ही लक्ष्य करके गा रही है और नायक के गीत को मैं इस प्रकार गाता जैसे मैं अपनी देवी को सुना रहा होऊँ। दुनिया समझती थी कि मैं केवल गीत गा रहा हूँ, लेकिन वास्तव में देखा जाय तो मैं अपनी प्रियतमा के साथ बातचीत करता था। वह देवी थी—वर्षों पहले साथ खेली हुई लड़की पर अपूर्व रूप और गुण का आरोप कर मेरी कल्पना ने उसे सलज्ज और सुकुमार नवोढ़ा बना दिया था। कितनी ही अपनी प्रिय अँग्रेजी कहानियों की नायिकाओं को तो मैंने उस सुन्दरी की तसवीर-भर माना था। कितने ही वर्ष तक मेरी दशा मीरा-जैसी हो गई थी, इसलिए रसिक और शृंगारी होते हुए

भी मुझमें वास्तविक स्त्री के प्रति आकर्षण नहीं था।

बुद्धि में बड़े होने का मेरा अभिमान कम न था। सोलहवें वर्ष में तो मैंने तत्वज्ञान पढ़ना शुरू कर दिया था। सत्रहवें वर्ष की समाप्ति पर तो मैं जर्मन तत्ववेत्ता कान्ट का 'शुद्ध प्रमाण का पृथक्करण'[1] समझने की कोशिश कर रहा था। जो लोग मन्द बुद्धि थे उनके प्रति मैं घृणा की दृष्टि से देखता था। पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से मैं पूर्ण रूप से आत्मकेन्द्रित (Ego-centric) बन गया था। मुझे किसकी परवाह थी? मुझे कहाँ किसीके साथ शंका समाधान करना था? किसलिए करता? मुझे तो केवल अपने बुद्धि-बल द्वारा ही जगत को जीतना शेष था। 'उमंग, लगन और अभिमान में खोया हुआ मैं उस समय स्त्री के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने योग्य न था। लेकिन जीजी मां के अद्भुत प्रेम के वश होकर मैंने इस निर्णय को स्वीकार किया था।

इस प्रतिज्ञा को पालन करते हुए मेरे प्राण घुटे जाते थे, लेकिन इसमें किसीका दोष न था। यह बात समझने की मुझमें शक्ति न थी कि हम सब संक्रान्ति काल के शिकार हैं। मैं कल्पनाशील और साथ ही 'कोऽन्योस्ति सदृशो मया' के गर्ववाला था। मैं तो ऐसी सहचरी के लिए बेचैन था जो मेरे साथ प्रेम-प्रसंग पर वादविवाद कर सके और कान्ट तथा स्पेन्सर पढ़ सके।........और मुझे मिली थी लक्ष्मी। जो बिलकुल बालक थी—शरीर में, बुद्धि में और विकास में।

मैं हताश हो गया। मेरा हृदय सदैव रोता रहने लगा। मैंने मरने का निश्चय किया। २२ अप्रैल के पहले की तारीख की डायरी में मैंने अपना हृदय उँड़ेल दिया। पीछे बुद्धिमानी करके उसके कुछ पन्ने फाड़ दिए। २१–४–१९०५ की डायरी में से केवल ये पंक्तियां रहने दीं—

'कल वह यहाँ रहने आई। मां ने अपनी बात की। मैं अब अपनी बात

---

१. Kant—Critique of Pure Reason.

करूँगा। ······वह तो बहुत ही, बहुत ही बच्चा है। मुझे लगता है जैसे मैं किसी छोटे बच्चे के साथ बँधा हुआ हूँ।'

लक्ष्मी निर्दोष, अज्ञानी और श्रद्धालु थी। उसकी आँखों में सदा ही भक्ति तैरती रहती थी। वह तो केवल मेरी कृपा की दीन भिखारिन थी। उसके साथ क्रूरता का व्यवहार करना मेरे लिए कठिन हो गया। इसलिए मैं अपने ही प्रति कठोर हो गया।

जब लक्ष्मी पास न होती तो मैं अकेला क्रन्दन करता रहता और कागज़ पर तड़पते शब्दों में अपनी क्षुद्रता और अपना दुःख व्यक्त किया करता। इस प्रकार क्रन्दन करते-करते मेरी नींद जाती रही।

पन्द्रह दिन तक डायरी भी न लिखी जा सकी। इस पक्ष की वेदना मैंने ६-५-१९०५ को लिखी—

'······मैं सतत वेदना और प्राणघातक दुःख का अनुभव करता हूँ। मेरे अध्ययन, मेरी विशेषताओं और मेरे रंगमंच के प्रति प्रेम ने मुझे बिगाड़ दिया है। मैंने बड़े ऊँचे आदर्श स्थिर किये। मैंने अपनी आशाओं को 'एवरेस्ट' तक पहुँचाया। मैं स्वप्न ही देखता रहा—ऐसे जो किसी ने न देखे हों। तिलोत्तमा और सावित्री[1] मेरे आदर्श थे। मैंने तो सुन्दर बातें करने वाली और साथ-ही-साथ गंभीर विचारशील और संस्कारी पत्नी चाही थी, लेकिन वह आशा पूरी न हुई। सदा को कुचल गई······।'

बाद में लिखे पन्ने फाड़ डाले और अन्त में लिखा—

'मैं कैसा मूर्ख और दुर्बल हो गया हूँ। मैं दुःखी होकर घर आया। माँ और बहन के आगे रो पड़ा—उसी प्रकार जैसे रोज एकान्त में रोता था। मेरे भग्न-हृदय को कौन जानेगा?

'और किसी के लिए नहीं तो मुझे अपनी माँ के लिए तो जीवित रहना ही है।'

---

१. 'जगतसिंह' और 'संसारी' सावित्री नामक नाटकों की नायिकाएँ।

६ जून को गरमी की छुट्टियां समाप्त हुईं और मैं कालिज जाने को तैयार हुआ। उस समय मैंने डायरी में लिखा—

'ऐसी बुरी छुट्टियाँ मैंने कभी नहीं बिताईं। मेरा तो दिल टूट गया है। मेरा सुख नष्ट हो गया है। आनन्दमय संसार पर अन्धकार छा गया है। मैं कब सुखी हूँगा—कब! रात-दिन की यह दारुण वेदना कब शांत होगी?'

और कालिज में आने पर भी यह दुःख कम नहीं हुआ।

मेरे छोटे और सुकुमार शरीर में भारी चिन्ता व्याप्त थी। इस अशांति से मैंने मरने का निश्चय किया। परन्तु यह भी संकल्प कर लिया कि यदि मरूँगा तो परिश्रम करके ही मरूँगा। मानसिक अशांति के कारण मुझे रात को नींद नहीं आती थी, इसलिए मैं निरन्तर पढ़ता ही रहता था।

१९०५ में प्रोफेसर और सहपाठी सब मेरा महत्व स्वीकार करने लगे। वादविवाद सभा में भी मेरा स्थान सबसे पहले आता था।

इस साल तत्वज्ञान के अध्ययन के बाद मैंने 'फ्रांस की राज्यक्रान्ति' का गंभीरता से मनन किया। उस समय जो सिद्धान्त प्रचलित थे उन्होंने मुझे मुग्ध कर लिया। ह्यूगो की रचनाएँ भी मैंने पढ़ डालीं। ड्यूमा की तो एक-एक रचना कई-कई बार पढ़ी। उस समय की मेरी डायरी में यह भी लिखा है कि मैं वर्ड्सवर्थ, बायरन, शेली और टेनीसन के सभी काव्य-ग्रन्थों को पढ़ गया।

मैं १९०४ से नये छात्रालय के बीसवें कमरे में रहता था। प्राणलाल भाई और एक मित्र उन्नीसवें कमरे में रहते थे। १९०५ के जून के महीने में गणित का फेलो सुपरिन्टेन्डेन्ट हुआ। उसने मुझे बीसवें कमरे से दूसरे में जाने के लिए कहा। उसे स्वयं इसमें रहना था। मैंने मना कर दिया। उसने मेरा सामान बाहर रखवा दिया। मैंने दूसरे में जाने के लिए मना कर दिया। तीन दिन सामान बाहर के चबूतरे पर ही पड़ा रहा। प्रोफेसर आते बीच में पड़े और उन्होंने निर्णय किया कि इस वर्ष बीसवें कमरे में

छ: महीने तक फेलो रहेगा और शेष बचे हुए कमरों में से जो मुझे पसन्द हो, उसमें मैं रह सकता हूँ। साथ ही यह भी तय हुआ कि १६०६ में मुझे मेरा कमरा वापस मिल जायगा। विवश होकर मैंने इसी मंज़िल का चौदहवां कमरा ले लिया। लेकिन न मैंने उसमें सामान रखा और न पढ़ने या सोने गया। अपना सामान और कपड़े मैंने प्राणलाल भाई के कमरे में रख दिए। सोने की खाट भी इस कमरे के बरामदे में रखी और जहां मन आया पढ़ता रहा। मैं चौदहवें कमरे में जाकर रहूँ, इसके लिए फेलो ने अनेक प्रयत्न किये, परन्तु एक भी प्रयत्न सफल न हुआ। उन्नीसवें कमरे में रह कर मैंने उसे खूब परेशान किया। वह एल०एल०बी० प्रीवियस में पढ़ता था। मैंने उसके पढ़ने में बड़ी बाधाएँ डालीं। उसे बीसवां कमरा फला नहीं। उस साल वह 'अम्बालाल साकरलाल पारितोषिक' प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील था। परिणाम आया; मैं प्रथम श्रेणी में आया था और पारितोषिक भी मार गया था।

१६०६ में अपने कमरे के वापस मिलने तक न तो मैं ही छात्रालय में चैन से बैठा और न फेलो को ही बैठने दिया।

हम १७ दिसम्बर १६०५ को बड़ौदा कैम्प में दराशा के यहाँ एकत्रित हुए थे। उस समय हमने जिन-जिन विषयों की चर्चा की उसका उल्लेख मैंने डायरी में किया था। वे विषय थे—पारसियों की सामाजिक स्थिति, गायकवाड़ी शासन में किसानों की स्थिति, बहिष्कार नीति, भारत की विशिष्टता, ईश्वर और स्त्री-सन्तान। हमारी चर्चाएं रात-दिन चलती रहतीं और उनमें गरमा-गरमी भी खूब होती।

'ईश्वर' मेरा प्रिय विषय बन गया था। कारण, मैं नास्तिकता और भौतिकवाद में विश्वास करने लगा था। फ्रांस की राज्यक्रांति के समय की विचारधारा ने मुझे मुग्ध बना रखा था। मैं मिराबो, रोब्सपियर, दांते और नेपोलियन—इन चारों के पराक्रमों का चिन्तन और मनन करता रहता था।

पहले मैं जितना धार्मिक था उतना ही अब पाश्चात्य विचारों का विश्वासी हो गया था। इन विचारों की धुन में मैंने जनेऊ और चोटी भी त्याग दिए थे।

१९०५ में अपनी जन्म तिथि के समय मैंने इस समय की अपनी स्थिति के सम्बन्ध में लिखा था—

'मैं अठारह वर्ष का हो गया। उनमें छः महीने तो मैं शोक से ही पीछा न छुड़ा सका। अब तक मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया, जिससे मुझे कलंक लगे। भविष्य में भी मैं इसी ढंग से रहना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे भाग्य में बहुत थोड़े दिन जीना लिखा है फिर भी इस थोड़े समय में मैं अपने लिए, अपने देश के लिए और अपने देशवासियों के लिए कोई ऐसा कार्य कर जाना चाहता हूँ जो युग-युग तक अमर रहे।'......Materialist, Ultra-reformist, Ardent Congressman in my eighteenth year.

Materialist—भौतिकवादी! संशय जिनका प्राण है, ऐसे पाश्चात्य विचारों में मैं फँस गया। राष्ट्रीयता की तो टूटी-फूटी तूंबड़ी ही मेरे हाथ में थी।

उद्वेग, अशान्ति और इस मान्यता के होते हुए भी कि मैं मर जाने वाला हूँ, मेरे भीतर से जीने और विजयी होने का आत्म-विश्वास नहीं गया था।

१९०६ में मैंने एलफिन्स्टन कालिज में जाने का विचार किया लेकिन किसी भी प्रकार मेरे लिए बीस रुपया मासिक से अधिक की व्यवस्था नहीं हो सकती थी, इसलिए मैं खिन्न हृदय से सीनियर अन्तिम वर्ष पूरा करने के लिए बड़ौदे आया।

इस समय मुझे जो दुःख होता था, उसकी अग्नि में जलते-जलते मैंने अनेक प्रकार की नई-नई बातें करना शुरू किया। रोज रात को बेचैनी के

कारण दरी पर सोना शुरू किया। थकान लाने के लिए यथाशक्ति टेनिस खेला। नींद न आने पर घास में पड़े-पड़े ग्रह और तारे देखने लगा। मैं क्लास में केवल हाज़िरी देने जाता था; बाकी के वक्त में पढ़ता रहता था। मैं अपने दर्शन के अध्यापक पुरोहित की क्लास में नहीं जाता था तो भी दार्शनिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए उनके घर जाता था। इस बीच मैंने 'अंग्रेजी साहित्य का दिग्दर्शन' का भी अध्ययन किया।

जनवरी में रानाडे की कृतियाँ पढ़ीं। ता० २१ को मैंने लिखा—

'रानाडे अपने युग के प्रतिनिधि थे। वह युग संक्रान्ति का था। नये भारत को उन्होंने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक मार्ग बताया। आज भी भारत उसी पथ पर चला जा रहा है। यह रानाडे की महत्ता का सूचक है।'

भारत में राजनीतिक परिवर्तन हो रहा था। ११ फरवरी १६०४ को कर्ज़न ने भारतवासियों को झूठा कहा। १६ जुलाई को बंग-भंग का प्रस्ताव पास हुआ। ७ अगस्त को समस्त बंगाल ने स्वदेशी का व्रत लिया। १ सितम्बर को नये प्रांत की विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। १६ अगस्त को बंग-भंग का प्रस्ताव कार्यान्वित हुआ। उस समय की परिस्थिति और घटनाओं का मेरे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा, इसका चित्रण मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में किया है। इस समय की एक-दो घटनाएँ ऐसी हैं, जो भुलाई नहीं जा सकतीं।

मोहनलाल पंड्या पर अरविन्द घोष का अत्यधिक प्रभाव था। इसके परिणामस्वरूप उसने मुझसे एक क्रांतिकारी दल में सम्मिलित होने की बात कही। हम इटली के दृष्टान्त के आधार पर यह मानने लग गए थे कि 'कार्बोनारी' जैसे गुप्त दलों के बिना स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। एक बार अरविंद घोष के भाई से भी मिला और उनके ज्वलन्त व्यक्तित्व का मेरे ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। बम बनाने की योजना का विवरण भी मैंने देखा।

एक छुट्टी के दिन हमें कर्ज़न कालिज के रसायन-विभाग के कमरे में

मिलना था। एक मित्र चाहे जब इस कमरे का ताला खोल सकता था। उस दिन वहाँ बम बनाने का प्रयोग होनेवाला था।

गुप्त रूप से मिलना, बिना ताली के ताला खोलना, चोरी से छिपकर बम बनाना—ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगीं। हो सकता है, इन बातों के लिए वांछित साहस मुझमें न हो। हो सकता है, किसी भी बात को गुप्त न रखने की स्वाभाविक कमज़ोरी मुझमें हो। उस दिन मैं प्रयोगशाला में देर से गया, इसलिए वह बन्द थी। बाद में मुझे पता चला कि प्रयोग के आरम्भ में ही शीशे की किसी वस्तु के टूटने से एक मित्र के सख्त चोट आई और प्रयोग स्थगित रहा।

इसके बाद मोहन पँड्या ने मुझे एक-दो बार व्यक्तिगत रूप से मिलने को बुलाया। लेकिन मैं गया ही नहीं। मुझे लगा कि मुझमें सशस्त्र क्रांति-कारी होने की शक्ति नहीं है।

मैंने संकल्प किया था कि मैं गहरे पानी में न उतरूँगा, तो भी मेरा राष्ट्रीयता का अध्ययन जारी था। जो विद्यार्थी यह समझते थे कि गायक-वाड़ सरकार भारतीय स्वतन्त्रता के लिए विक्टर इमेन्युअल बनेगी, उन्हीं में से एक मैं भी था। जापान, चीन और भारत तीनों मिलकर एक स्वतन्त्र देश कैसे बन सकते हैं, इसकी एक योजना भी मैंने बनाई थी। मैंने उसके लिए जापान का इतिहास पढ़ा था तथा 'जापान और जापानी' विषय पर एक विस्तृत निबन्ध भी लिखा था।

इसके बाद अरविन्द घोष छुट्टी लेकर कलकत्ते गए। वहाँ जाकर वे राष्ट्रीय-आन्दोलन में कूद पड़े, 'बन्देमातरम्' के सम्पादक हो गए। इस विषय का उल्लेख मैंने 'स्वप्नद्रष्टा' में किया है। 'वन्देमातरम्' के लेख पढ़-पढ़कर मैं बल्लियों उछलता था। अरविन्द घोष ने फरवरी १९०६ में जो भाषण दिया था, उसकी प्रतिध्वनि मेरे हृदय में बहुत दिनों तक गूँजती रही। अपनी डायरी में मैंने १५-२-१९४६ को इस विषय में लिखा था—

"अरविन्द घोष का भाषण सुना। भारत का उद्धार अपने ही हाथों में है। आत्म-विश्वास रखो। अपना उद्धार स्वयं ही करो। तुम यदि जीते हो तो भी अपने लिए। जिस क्षण तुम स्वाधीन होने का संकल्प करोगे उसी समय तुम्हारा ध्येय पूर्ण हो जायगा। Believe in yourself. The moment we decide to rule ourselves, our object will be accomplished."

यह स्वर्गीय सन्देश मेरे लिए नया था; वसंत-ऋतु की प्रथम मादक लहर की भांति जीवन को नव-किसलय-युक्त कर दिया।

जब अरविन्द घोष पहले थोड़े दिन के लिए प्रिंसिपल थे तब मैं उनके संसर्ग में आया था। लेकिन इस समय मैं और मेरा एक मित्र उनसे मिलने गए। जो प्रश्न मैं पूछना चाहता था उसे मैंने डरते-डरते उनके सामने रखा—'राष्ट्रीयता कैसे आ सकती है?'

वे मन्द और मधुर हँसी हँसे और दीवार पर टंगे भारत के मानचित्र की ओर संकेत करते हुए बोले—

'वह नक्शा देखा? भारत माता का चित्र इस नक्शे में देखो। उसके शहर और पर्वत, उसकी नदियाँ और जंगल—यह उसका स्थूल शरीर है। उसके सभी निवासी उसके छोटे बड़े तन्तु हैं। उसका साहित्य उसकी स्मृति और वाणी है। उसकी चेतना उसका जीवन है। उसकी सांस्कृतिक भावना उसका प्राण है। उसका स्वातन्त्र्य और सुख उसका मोक्ष है। इस प्रकार भारत को जीवित माता के रूप में ध्यान करो और उसे नवधा भक्ति से भजो।'

मैं निराश हो गया क्योंकि मैं समझता था कि वे राष्ट्रीयता का अध्ययन करने के लिए पुस्तकों के नाम लिखावेंगे।

'लेकिन उसका ध्यान कैसे किया जाय?'

'तूने विवेकानन्द की कृतियाँ पढ़ी हैं?' उन्होंने प्रश्न किया।

मैंने नकारात्मक उत्तर दिया।

'उन्होंने योग पर लिखा है, उसे पढ़ना, ध्यान से, समझ में आजायगा।'

इस बात से मुझे असन्तोष रहा फिर भी मैं विवेकानन्द की कृतियाँ पढ़ने लगा।

इन कृतियों को पढ़ते समय मुझे प्रथम बार भगवान पातंजलि का परिचय मिला। मैंने बड़ी मुश्किल से स्वर्गीय मणिलाल नथुभाई द्वारा पातंजलि के कुछ सूत्रों पर लिखी हुई पुस्तक प्राप्त की और उससे सर मारने लगा।

मेरे पास का वह 'योगसूत्र' आज पुराना हो गया है। मैंने उसके ऊपर पट्ठे-पर-पट्ठे चढ़ाए हैं। मैंने उसे सैकड़ों बार बिना समझे या उलटा समझे पढ़ा है। आज भी मैं उसके तीसरे और चौथे पद को समझने में असमर्थ हूँ। इतना होने पर भी मैंने उसे बड़ौदा कालिज की छत पर पढ़ा, बम्बई में काँदे-वाडी से रिज रोड तक पढ़ा और नासिक तथा बीजापुर जेल में पढ़ा। यर-वदा जेल में एक वृक्ष के नीचे योग की अर्वाचीन मूर्ति के समान जिन गांधी-जी ने १९३२ में अपने योगबल से हिन्दू धर्म और समाज की एकता का विधान किया था उन्हींके सामने जब मैं यह लिख रहा हूँ तो भी वह सामने पड़ा है। इस प्रकार पातंजलि मेरे जीवन का साथी है—दुःख में, सुख में, अकेले बन में और समूह में, मेरी रक्षा करता हुआ, मुझे डूबने से बचाता हुआ, मुझे प्रेरणा देता हुआ और ऊँचा उठाता हुआ।

जबकि उसका मुझे प्रथम परिचय हुआ उस समय शायद मैंने उसमें से कुछ समझा हो, लेकिन मेरे लिए तो वह पर्याप्त था। भगवान पातंजलि के सम्पर्क से मेरे पाश्चात्य संस्कारों के आवरण का हटना शुरू हो गया।

: ६ :

नानाभाई १९०६ में छात्रालय में आया। हम लोगों की उम्र में ज्यादा फर्क न था। उसके साथ मित्रता होने की बात मैंने २१-२-१९०६ को लिखी—

'नानाभाई से मिला। वह होशियार और आगे बढ़ने के लिए बेचैन

युवक है। यह आशा की जा सकती है कि वह सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अच्छा काम करके दिखायगा।'

इस बीच मेरी उद्विग्नता अधिक बढ़ गई थी। मुझे लगा जैसे मैंने संसार बसाकर 'देवी' के प्रति विश्वासघात किया है। मैंने डाह्याभाई घोलशाजी का 'उदयभान' नाटक अनेक बार देखा था और उसके गीत मेरी जिह्वा पर थे—

स्वर्ण जटित अति सुन्दरयान, ऊँचे-ऊँचे भवन महान,
फिर भी सुखी नहीं संसार !
नीड़ बना है किन्तु नहीं है उसका विहग निवासी।
मोर बिना इस हरे आम पर छाई घोर उदासी॥
ऐसे नीड़ और आमों पर रहना क्या रहना है ?

ये मेरे ही मन के प्रश्न थे। जीऊँ ? किसलिए ? किसके लिए ? दिन में कालिज की छत पर और रात को घास पर टहलते हुए मैं ये प्रश्न अपने आपसे पूछा करता था।

डुमस और सचीन की स्मृतियाँ मुझे नये रूप में घेरने लगीं। 'देवी' कल्पना में सजीव होकर मुझे मेरी आवाज़ में कहने लगी—

मुझे तड़पती छोड़ न जाना ओ मेरे निर्मोही।
ओ पागल, अलबेले मेरे मन के मीत बटोही।
इस अलबेली के कोमल प्राणों के तुम आधार हो।

मैं सदा इस गीत को गाया करता और अपने को विश्वासघाती प्रेमी के रूप में धिक्कारता रहता।

इसी नाटक का एक दूसरा गीत था। उसे भी मैं दयनीय होकर गाया करता और मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रहती—

पंथ न सूझे प्रियतम प्यारे
बरसे आँसू धारा रे।

'उन्होंने योग पर लिखा है, उसे पढ़ना, ध्यान से, समझ में आजायगा।'

इस बात से मुझे असन्तोष रहा फिर भी मैं विवेकानन्द की कृतियाँ पढ़ने लगा।

इन कृतियों को पढ़ते समय मुझे प्रथम बार भगवान पातंजलि का परिचय मिला। मैंने बड़ी मुश्किल से स्वर्गीय मणिलाल नथुभाई द्वारा पातंजलि के कुछ सूत्रों पर लिखी हुई पुस्तक प्राप्त की और उससे सर मारने लगा।

मेरे पास का वह 'योगसूत्र' आज पुराना हो गया है। मैंने उसके ऊपर पट्ठे-पर-पट्ठे चढ़ाए हैं। मैंने उसे सैकड़ों बार बिना समझे या उलटा समझे पढ़ा है। आज भी मैं उसके तीसरे और चौथे पद को समझने में असमर्थ हूँ। इतना होने पर भी मैंने उसे बड़ौदा कालिज की छत पर पढ़ा, बम्बई में काँदेवाडी से रिज रोड तक पढ़ा और नासिक तथा बीजापुर जेल में पढ़ा। यरवदा जेल में एक वृक्ष के नीचे योग की अर्वाचीन मूर्ति के समान जिन गांधीजी ने १९३२ में अपने योगबल से हिन्दू धर्म और समाज की एकता का विधान किया था उन्हींके सामने जब मैं यह लिख रहा हूँ तो भी वह सामने पड़ा है। इस प्रकार पातंजलि मेरे जीवन का साथी है—दुःख में, सुख में, अकेले बन में और समूह में, मेरी रक्षा करता हुआ, मुझे डूबने से बचाता हुआ, मुझे प्रेरणा देता हुआ और ऊँचा उठाता हुआ।

जबकि उसका मुझे प्रथम परिचय हुआ उस समय शायद मैंने उसमें से कुछ समझा हो, लेकिन मेरे लिए तो वह पर्याप्त था। भगवान पातंजलि के सम्पर्क से मेरे पाश्चात्य संस्कारों के आवरण का हटना शुरू हो गया।

: ६ :

नानाभाई १९०६ में छात्रालय में आया। हम लोगों की उम्र में ज्यादा फर्क न था। उसके साथ मित्रता होने की बात मैंने २१-२-१९०६ को लिखी—

'नानाभाई से मिला। वह होशियार और आगे बढ़ने के लिए बेचैन

युवक है। यह आशा की जा सकती है कि वह सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अच्छा काम करके दिखायगा।'

इस बीच मेरी उद्विग्नता अधिक बढ़ गई थी। मुझे लगा जैसे मैंने संसार बसाकर 'देवी' के प्रति विश्वासघात किया है। मैंने डाह्याभाई धोलशाजी का 'उदयभान' नाटक अनेक बार देखा था और उसके गीत मेरी जिह्वा पर थे—

स्वर्ण जटित अति सुन्दरयान, ऊँचे-ऊँचे भवन महान,
फिर भी सुखी नहीं संसार !
नीड़ बना है किन्तु नहीं है उसका विहग निवासी।
मोर बिना इस हरे आम पर छाई घोर उदासी॥
ऐसे नीड़ और आमों पर रहना क्या रहना है ?

ये मेरे ही मन के प्रश्न थे। जीऊँ ? किसलिए ? किसके लिए ? दिन में कालिज की छत पर और रात को घास पर टहलते हुए मैं ये प्रश्न अपने आपसे पूछा करता था।

डुमस और सचीन की स्मृतियाँ मुझे नये रूप में घेरने लगीं। 'देवी' कल्पना में सजीव होकर मुझे मेरी आवाज़ में कहने लगी—

मुझे तड़पती छोड़ न जाना ओ मेरे निर्मोही।
ओ पागल, अलबेले मेरे मन के मीत बटोही।
इस अलबेली के कोमल प्राणों के तुम आधार हो।

मैं सदा इस गीत को गाया करता और अपने को विश्वासघाती प्रेमी के रूप में धिक्कारता रहता।

इसी नाटक का एक दूसरा गीत था। उसे भी मैं दयनीय होकर गाया करता और मेरी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रहती—

पंथ न सूझे प्रियतम प्यारे
बरसे आँसू धारा रे।

भरे विश्व में नाथ अकेली
आज मृत्यु ही एक सहेली
मन की मन में ही रह जाती
बिना खिले कलिका मुरझाती
आशा के पूरे होने का
कोई नहीं सहारा रे ।

भग्न हृदय और कंपित स्वर से मैं डुमस की स्मृतियों को सजीव कर क्रन्दन कर उठता—

वन-उपवन में भूल पड़ी मैं, पियत सुधा का प्याला रे ।
पिया, लिया सब सार सृष्टि का, कठिन अमर प्रण पाला रे ।।
—पंथी परदेश ।

× × ×

करता है उपहास जगत सब, मुझे समझता पागल रे ।
मैं पागल या यह जग पागल, मेरे मन में हलचल रे ।

उमंगों के आवेश से उत्तेजित कल्पना में सजीव होकर 'देवी' मेरी प्रतीक्षा में व्याकुल रहने लगी और मुझे दिन-रात बुलाने लगी ।

इस असह्य वेदना के कारण मैंने अपनी जीवन-लीला समाप्त करने का निश्चय किया । मैं बाजार से आयोडीन की शीशी ले आया और छिपाकर रख ली । अन्तिम पत्र भी लिख लिया । इतने में ही मुझे जोर का बुखार आ गया और मैंने बुखार की तेजी में मन में घुमड़ती अनेक बातें बक डालीं । नानाभाई मेरी तीमारदारी करता था । उसे शक हुआ । मेरा अन्तिम पत्र और आयोडीन की शीशी उसके हाथ पड़ गए । उसने शीशी फेंक दी । बुखार उतरने के बाद उसने मुझसे बातें कीं और मुझसे वचन ले लिया कि अब कभी मैं अपनी जान को खतरे में न डालूँगा । मैं व्यथित था, इसलिए मैंने आरम्भ से लेकर अन्त तक अपनी पूरी दुःख-गाथा उसे

सुना डाली । दुःख-गाथा ही नहीं, अपनी स्मृतियां, मनोरथ और मन में उठने वाली उमंगों को भी कह डाला ।

नानाभाई की मां मर गई थी और उसका वियोग उसे छोटे बच्चे की तरह दुःख देता था । उसने भी अपना दुःख मुझसे कहा । हम दोनों दुखी प्राणी आँसू बहाते हुए एक-दूसरे को आश्वासन देने लगे ।

मैंने उसे वचन दे दिया था कि मैं अब फिर कभी आत्महत्या करने का प्रयत्न नहीं करूंगा । मेरे दुःख को बंटानेवाला एक साथी मिल गया था, इसलिए मेरी उद्विग्नता कम हो गई । तब से मेरी अतृप्त कामना काल्पनिक सहचरी को लेकर ही सन्तुष्ट रहने लगी । इस प्रकार मैं काल्पनिक कृष्ण को वरनेवाली मीरा जैसा हो गया । उस समय की डायरी मेरी मानसिक वेदना और उसे दूर करने के लिए मेरे द्वारा किये गए प्रयत्नों का आभास देती है—

'मैं उदास हूँ......स्वस्थ होने का मार्ग यह है कि परिस्थिति और रिश्तेदारों से अधिक आशा न रखनी चाहिए।'

(२२-१-१६०६)

फरवरी या मार्च में मैंने डुमस के अनुभवों को कहानी का रूप दिया । उसका नाम मैंने 'बाल प्रणयी—Child-Lovers' रखा था ।

मैंने इस वर्ष की छुट्टियों में भड़ौंच जाकर २२-४-१६०६ को अपनी डायरी में विस्तार से अपने विचार लिखे थे। उनमें मेरे हृदय में व्याप्त व्यथा का यथातथ्य चित्र मिलता है—

'जिस समय मेरी कामनाएँ विकसित हो रही थीं, उस समय मुझे एक ऐसा अनुभव हुआ, जिससे कि मेरा उत्साह भंग हो गया । परिणामस्वरूप सुखमय जीवन बिताने की मेरी सभी आशाएँ नष्ट हो गईं । बाद में दूसरी घटना घटी और मेरी तीव्र भावनाओं को ठेस लगी । मेरी रही-सही चेतना भी व्यथा से टकराकर चूर हो गई है । मैं भग्न-हृदय हूँ । एक वर्ष होने को

जूतों पर पॉलिश कराने की चिंता भी नहीं करता था। रात को दरी पर पड़ा रहता। शाल मैं शायद ही कभी सँभालता था। मेरी मेज पर बेहद धूल जमी रहती थी। पुस्तकें और कागज-पत्र भी यों ही अस्त-व्यस्त बिखरे रहते थे। इस प्रकार मैं अव्यवस्थित और बिलकुल लापरवाह था।

मां ने बहू को पति को वश में करने की नई तरकीब बताई। मेरे कपड़े, टोपी और जूते ठीक रहने लगे। मेज स्वच्छ और व्यवस्थित होती गई। मुझे मेरे मन के अनुकूल दातुन, पानी और चाय मिलने लगे। भोजन करने की व्यवस्था सुन्दरता से होने लगी। मैं जिस ओर चलूँ उसी ओर पता न चल सके इस ढंग से सब प्रकार की सुविधा होने लगी। लक्ष्मी न कुछ कहती, न कुछ मांगती। वह आज्ञा देने से पहले ही समय पर सब-कुछ तैयार रखती। मुझे यह सूझता ही नहीं था कि मैं कैसे उसका दिल दुखाऊँ और कैसे उससे गुस्सा होऊँ। मेरे मन ने समझौता न करने का निश्चय किया, परन्तु उसकी परिचर्या में मेरा जीवन जकड़ने लगा।

दो स्त्रियां—एक अनुभवी और दूसरी उत्साही—एक जंगली भेड़िये को वश में कर रही थीं।

"Guy Boothley की 'Love Made Menifest' पढ़ी। जैसे-जैसे उसके पृष्ठ पढ़ता गया वैसे-ही-वैसे खिन्नता में डूबता गया। मेरी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी।"

(२६-४-१९०६)

१९०६ की छुट्टियों में डायरी मौन हो जाती है। कालिज में जाने से पहले फिर खिन्नता आती है, लेकिन विषाद के रूप में नहीं, रोग के रूप में। साथ ही उसके दूर करने की दवा भी हाथ लग जाती है।

'मैं कितने अस्थिर निश्चयवाला मूर्ख हूँ! खिन्नता ने मुझे अपने जाल में फँसा लिया है।'

'गत वर्ष के अनुभव ने मेरी धारणा को असंगत ठहरा दिया है। जिस

'देवी' के विषय में मैंने मौन धारण कर लिया था और जिसके प्रेम को भुलाने के लिए मैंने पर्याप्त प्रयत्न किया था वह कुछ दिनों से फिर मेरे मन में आने लगी है। जिसने उसका स्थान लिया है वह निर्बल और अज्ञानी बालिका है। उसके प्रति मेरी अरुचि बढ़ती ही जाती है। मैं अपने उल्लास-मय जीवन को नष्ट होने से बचा नहीं सकता। 'देवी' मिलेगी नहीं और इसे निभा न सकूँगा। मुझे तो अब यंत्र बनकर ही रहना पड़ेगा।

'इस वर्ष देवी तीन बार स्वप्न में आई—कल, पावागढ़ पर और उससे पहले।

'मन बेहद परेशान है।' (११-६-१६०६)

'उद्विग्नता हुई। कौन जाने कब शांति मिलेगी? हो सकता है कि कभी न मिले।' (२६-६-१६०६)

आवश्यकता पड़ने पर मैं अपनी आत्मा को पत्र लिखता। ६ सितम्बर १६०६ का लिखा हुआ एक ऐसा पत्र है—

"प्यारी आत्मा,

तू कहाँ गई? तेरी शक्ति फिर क्यों नहीं प्रकट होती? कभी तू बड़ी शक्तिशालिनी थी। आज जब तेरी तीव्र आवश्यकता है तब तू आकर सहायता क्यों नहीं करती? क्या एक बार हार जाने के कारण ही तू युद्धस्थल छोड़ देगी? भले ही तेरे सांसारिक सुख नष्ट हो गए हों, भले ही तेरा हृदय असन्तुष्ट हो, फिर भी तुझे युद्ध करते रहने के लिए कमर कसनी चाहिए। तेरे हृदय की इच्छा पूर्ण न हुई तो क्या बात है? कायर! क्या तू युद्ध में पीठ दिखायगी? साहस रख, प्रयत्न कर, नहीं तो तुझे गुलाम होना पड़ेगा। तू बता दे कि तू अपनी मानसिक उथल-पुथल को शांत करने में समर्थ है।

"समय और शक्ति का अपव्यय छोड़ दे। स्त्री की भांति रोता क्यों है? परिश्रम कर, परिश्रम! कर्तव्य ही वर्तमान का दृढ़ नियम है।

"उद्विग्नता हुई। मूर्ख, आलसी, तू जाग। क्या तुझे असफल होना है? इस वर्ष नाम बोलते हुए तुझे शर्म नहीं लगती?" (३-६-१६०६)

१५ सितम्बर को कालिज छोड़ते समय मैंने लिखा—

'आज कालिज में मेरा अन्तिम दिन है। जहाँ मैंने सबसे अधिक सुख के दिन बिताये हैं, उस स्थान को छोड़ते हुए मुझे बहुत ही दुःख होता है। हो सकता है कि ये दिन फिर देखने को न मिलें।'

इस प्रकार मैंने बड़ौदा कालिज को प्रणाम किया।

: १० :

कुछ महीने हुए, मैं एक मुकदमे के सिलसिले में बड़ौदा गया था। शाम को अकेला था, इसलिए कालिज की ओर निकल गया।

मैंने मोटर बाहर खड़ी कर दी। कारण इस अर्वाचीन राक्षस से मुझे अपनी स्मरण-शक्ति भ्रष्ट नहीं करनी थी। मैं अन्दर गया। धीरे-धीरे मैं दरवाजा पार करके वहाँ जा खड़ा हुआ जहां कालमापक यंत्र का टावर (घण्टाघर) था। मैं बदल गया था परन्तु मेरा यह पुराना मित्र तो जहां-का-तहां खड़ा था।

वहां से महराव में होकर मैंने बन्द हॉल में नजर डाली। वहाँ अँधेरा था। मैंने उसके प्लेटफॉर्म पर एक सोलह वर्ष के बालक को देखा—लटकती हुई धोती, बिना संवारे बाल····चेधाम, शेरीडन और सुरेन्द्रनाथ के भाषणों को दुहराता हुआ।········

वहाँ से मैंने बाग की ओर रुख किया। उसके वृक्षों के नीचे बैठकर शेली के 'एपीप्साई कीडियन'[1] को हृदयंगम कर प्रणय-विह्वलता का अनुभव किया था। उसके उत्तराधिकारी असुरक्षित दशा में खड़े थे। यहां मैंने फूल चुने

१ Shelley Epipsychidion

थे और सूर्य किरणों द्वारा निर्मित छींट की चादर पर पड़े-पड़े "I am not thine, but a part of thee" के मन्त्र द्वारा मैंने देवी के दर्शन किये थे ।

उसके बाद मैं महादेवजी के पुराने मंदिर में गया । यहीं बैठकर मैंने उनकी पूजा में अन्धविश्वास देखा था; मूर्ति-पूजा का मजाक उड़ाया था; नास्तिकवाद का विचार और प्रचार किया था; धर्मान्ध भारतीयों को धिक्कारा था । वे उसी स्थान पर बैठे थे—पार्वती के पति—मानो मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों । मैंने घण्टा बजाया; उनके सम्मुख उपहार रखा ।

धीरे-धीरे आनन्द से पुरानी स्मृतियों का रस लेता हुआ मैं स्क्वायर ब्लॉक की ओर गया । वहां कोई नहीं था । मुझे लगा जैसे वह मकान मेरे बिना सूना हो और मेरी प्रतीक्षा करता हुआ खड़ा हो ।

जिस जीने पर मैं हजारों बार चढ़ा-उतरा था, उस पर होकर मैं बीसवें कमरे के सामने गया । कमरा बन्द था, लेकिन मेरा हृदय उसका मानसिक आलिंगन कर रहा था—मानो वह मेरा चोला हो और मैंने किसी दूसरे में काया-प्रवेश कर लिया हो । एक दीवार पर के० एम० ये दो अक्षर ऐसे लग रहे थे जैसे वे सवेरे ही खोदे गए हों ।

मैं कुछ देर वहाँ खड़ा रहा—कल्पना द्वारा उस विनाष्टसृष्टि को पुनर्जीवित करता हुआ । मैंने पी०के० आचार्य और नानाभाई की आवाजें सुनीं । मैंने स्वयं अपने को प्रणय-गीत गाते सुना ।······जैसे कोई महायोगी परलोक से किसी आत्मा को सशरीर बुलाता है वैसा ही प्रयोग मैंने भी किया लेकिन वह नहीं आई । वह वास्तविक प्रतिमा में समा गई थी । वास्तविकता के स्पर्श से समस्त आकर्षण जाता रहा । स्मरण-शक्ति संकुचित हो गई । मैं अपनी मूर्खता पर हँसता हुआ पीछे लौटा ।

मैं धीरे-धीरे नीचे उतरा तो देखा कि चबूतरे के आगे एक वृद्ध कहार

बैठा है और कमजोर आँखों से लालटेन साफ कर रहा है । मैंने उसे पहचान लिया और प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ उसकी ओर बढ़ा ।

'हरि !'

वही हरि, जो फेलो के साथ डाइसेक्शन हॉल के दरवाजे को तोड़ने आया था ।

वृद्ध हरि ने धीरे से इस अपरिचित-से प्रतीत होते व्यक्ति की ओर देखा । उसकी आँखों में परिचय का प्रकाश न था ।

मैंने उसे इनाम दिया । उसने नोट हाथ में लिया और मुँह फाड़ा । इनामों से भी वह अपरिचित था ।

'आप कौन ?' उसकी आवाज ज्यों-की-त्यों थी ।

'शहर में प्राणलाल मुन्शी वकील हैं, उन्हें जानता है ?' मैंने पूछा ।

'हाँ, हाँ, ।'

'तुझे याद है कि उसके साथ उसका भाई भी यहाँ पढ़ता था ?'

हरि ने गरदन घुमाई ।

'बहुत वर्ष हो गए । ठीक पता नहीं ।'

यह नई दुनिया थी, जिसमें मेरी किसीको स्मृति तक न थी । मैं खेद का अनुभव करता हुआ वापस लौटा और मेरे मुँह से एक अर्द्धस्मृत गीत की ये पंक्तियाँ निकल गईं—

इस व्रज में मैंने किया
विट्ठल संग विहार;
पग रखते इस भूमि में
आती उसकी याद रे ।

: ११ :

सितम्बर-अक्तूबर में मैंने खूब पढ़ा । मैं कितने घण्टे पढ़ा, इसका

हिसाब मैं अपनी डायरी में रखता था। उसके अनुसार मैं दस से बारह घंटे तक लगा रहता और मेरी अस्वस्थता कम होती जाती।

केवल एक ही बार पागलपन सवार हुआ—

'आज दो दिन से मेरे ऊपर रोग का तीव्र प्रकोप है। देवी! देवी! तुझसे स्वप्न में आने के लिए कहा हो या न कहा हो पर पिछले अड़तालीस घण्टों में तुझे कितनी बार देखा है?...मुसकाती, लजाती, चमकती, कूदती। ......देवी! मुझे ले जा; नहीं तो मुझे जर जाने दे। इस तीव्र वेदना को मैं कैसे सहूँगा? प्रभो! देवी! देवी! मैं नहीं रह सकता!'

(३१-१०-१९०६)

मैं बी० ए० में सैकण्ड डिवीजन में पास हुआ। अँग्रेजी में ६० प्रतिशत अंक मिले और मैंने 'इलियट पुरस्कार' भी प्राप्त किया। संस्कृत में फेल होते होते बचा। परीक्षा-फल जानकर मां का हृदय हर्षित हुआ। उसे अपने तप की सिद्धि निकट जान पड़ने लगी।

लेकिन यह सुख दो दिन रहा। तीसरे दिन पुत्र को तेज बुखार आ गया। अट्ठाईस दिन तक माँ के प्राण कण्ठ में रहे। कारण, बुखार उतरा ही नहीं। महादेवजी का नाम लेकर उसने दिन रात तीमारदारी की। बड़ी बहन पीहर आ गई थी। उसने घर का कुछ बोझ सँभाल लिया। बहू ने भी मूक-भाव से खूब मेहनत की।

बेटे का हृदय बड़ा विचित्र था। बहू को देखता कि उसे कँपकँपी आ जाती और उसका बुखार बढ़ जाता। बहुधा वह सिसकी भरकर रोने लग जाता। मां उसे छाती से लगाकर सान्त्वना देती। उसके क्रन्दन का एक ही विषय था—मेरा जीवन नष्ट हो गया। मुझे ऐसी स्त्री क्यों मिली? मैं क्यों जीऊँ? किसके लिए जीऊँ?

बहू का भी क्या दोष था? वह अपनी बुद्धि के अनुसार योग्य बनने की चेष्टा करती थी। सेवा करने में भी कभी पीछे नहीं रहती थी। उसे कभी-

कभी यह खयाल भी आता था कि वह पति को अच्छी नहीं लगती। लेकिन संतोष की बात यह थी कि उसका हृदय बालकों-जैसा था, इसलिए वह उस दुःख का अनुभव नहीं करती थी।

मां की अत्यन्त परिश्रम द्वारा तैयार की हुई रचना नष्ट होती जान पड़ने लगी। बहुधा वह महादेवजी के सम्मुख जाकर आंसू बहाती और कहती 'चन्द्रशेखर महाराज! क्या मेरे लिए इतना सुख भी न रहने दोगे?'

मेरी इस पूरी बीमारी में डाक्टर कामाकाका ने बड़ी सहायता दी थी। उनकी मेहनत और सौम्य स्वभाव से मां को बड़ी हिम्मत बँधती थी।

डाक्टर कामाकाका भड़ौंच के अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति थे। वे कुरता और पाजामा पहने सदैव अपने दवाखाने में हाजिर रहते थे। वे बिना जाति-पांति के भेद के सभी मरीजों को जाते वक्त टूटे किनारेवाले प्याले से पक्षपात-रहित ढंग से मैगसल्फ (जुलाब के लिए दिया जानेवाला विलायती नमक) पिलाते थे। इस प्रकार साम्य-भावना का प्रसारक यह दवाखाना जगन्नाथपुरी के समान पवित्र माना जाता था।

कामाकाका वास्तविक पारसी भलमनसाहत के अपूर्व प्रतिनिधि थे।

हम पर उनकी बड़ी ममता थी। पिताजी के स्वर्गवासी हो जाने के बाद वे हमारी दवा इतने प्रेम से करते थे जैसे वे हमारे ही कुटुम्ब के व्यक्ति हों। उनके द्वारा किये गए उपकारों को कभी नहीं भुलाया जा सकता। बाद में मैं उनकी परेशानियों को दूर करने में कुछ सहायक हो सका, इसके लिए मैं अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता हूँ।

मेरा बुखार अभी उतरा ही था कि मेरा कान सूज गया और मुझे फिर बुखार आ गया। विवश होकर कान का ऑपरेशन कराना पड़ा। यों मैं तीन महीने तक खाट में पड़ा रहा। बीमारी में भी मैंने खूब पढ़ा। विशेषरूप से कार्लाइल के प्रति मेरी अधिक रुचि हुई और उसकी रचनाओं से मैंने पर्याप्त प्रोत्साहन भी पाया।

'अन्त में मैं ग्रेजुएट हुआ। पाँच वर्ष तक कालिज में पढ़कर मैंने अपने ध्येय को प्राप्त किया। जीवन का एक अध्याय पूरा हुआ और अब मैं दूसरे में प्रविष्ट हूँगा।....कालिज में भी आलसी होने के कारण मैंने अनेक सुअवसरों से पूरा लाभ नहीं उठाया।

'आज थोड़ी-सी अंग्रेजी को छोड़कर मुझे कुछ नहीं आता। निर्धनता के कारण मैं बड़ौदा कालिज न छोड़ सका और बाद में मेरे हृदय ने इतने अधिक विघ्न डाले कि मुझसे प्रगति न हो सकी। मुझे एक आवश्यक वस्तु का ज्ञान अवश्य हुआ है। मैं अपने को मन्द-बुद्धि समझता था लेकिन ऐसा नहीं है। परन्तु मैं अपने शरीर के लिए क्या करूँ? वह अत्यन्त दुर्बल है। यह समझ में नहीं आता कि इस कठिनाई को कैसे दूर करूँ।......

'मेरे जीवन-विधाता आज अपने इस प्रिय पुत्र को देखने के लिए जीवित नहीं हैं।' जब तक वे जीते थे तब तक मैंने कोई अच्छा कार्य भी करके नहीं दिखाया। आज पुत्र पर गर्व करने के लिए वे मौजूद नहीं हैं।......

'उनका विचार मुझे सिविल सर्विस के लिए भेजने का था। अब जबकि मैं आयु और बुद्धि में उस परीक्षा के योग्य होने लगा हूँ तो मेरे पास उसके लिए साधन नहीं हैं। यदि वे आज जीवित होते तो मेरे जीवन-क्रम में कितना फेर-फार हो जाता? अब तो सॉलिसिटर होने का इरादा है—शरीर ने यदि होने दिया तो।' (२६-२-१९०७)

इस प्रकार मेरे सामने एक बड़ी भारी कठिनाई आ खड़ी हुई—मेरी शारीरिक दुर्बलता की।

इस बीमारी में मैंने योगसूत्र के साथ गीता भी पढ़ी थी। मुझमें दोनों ग्रन्थों को भली प्रकार समझने की शक्ति न थी, लेकिन संयमी होने के लिए मैंने पांच-छः श्लोक और एक-दो सूत्र हृदयंगम कर लिए, जो मुझे स्वस्थ रखने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। तनिक-सी भी उद्विग्नता होती कि मैं झट उनका मनन करने लग जाता।

चिरकाल तक निरन्तर एक ही बात को रटते रहने से मानसिक दशा बिगड़ती भी है और सुधरती भी, इसका मुझे स्वयं अनुभव है। नाटक के गीतों को गा-गाकर मैं प्रणय-विह्वल बनता और देवी का साक्षात्कार करता। साथ ही 'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः' का पाठ कर-करके अपनी अशक्ति को जीतने का बल प्राप्त करने की व्यर्थ चेष्टा भी करता।